८३५ विस्तृतटिप्पण रखेहैं ॥ संस्कृतके प्रत्येक उत्थानिका अन्वय औ टीकाके आरंभमें अंक दियेहैं औ तिनके अनुसार भाषाके उत्थानिकाआदिककूं बी अंक दियेहैं। ऐसैं सर्वमिलिके ५६७८ अंक संस्कृतमें औ तितनेंहीं भाषामें रखेहैं ॥ मुख्य मध्य औ लघुप्रसंग ग्रंथके भाषाविभागमें रखेहैं ॥ प्रसंगदर्शकानुक्रमणिका उपरांत एक बडी अकारादिअनुक्रमणिका। औ सर्वश्लोकनके पूर्वार्धके प्रथमअर्धकी अकारादिअनुक्रमणिका बी रखीहै ॥ ग्रंथके भीतरमें भाषाकार ब्रह्मनिष्ठपंडितश्रीपीतांबरजीमहाराजकी तिनोंके हस्ताक्षरसहित यथास्थितचित्रितमूर्ति बिलायतसैं मंगवायके रखीहै ॥ इस ग्रंथकी जिल्द बी चर्मकी बिलायतसैं मंगवाईहै औ तिसपर संसारकी असारताके स्मरण करावनेहारे अनेकप्रकारके सार्थभ्रांतिचित्र औ सुवर्णादिकपटप्रकारके रंगयुक्त "गजेंद्रमोक्ष"का चित्र दियाहै ॥ ग्रंथके अंतमें श्रीमद्भागवतगत"गजेंद्रमोक्ष" संपूर्णमूल औ ब्रह्मनिष्ठपंडितश्रीपीतांबरजीमहाराजकृत अन्वयअंकयुक्तभाषासहित रखाहै ॥ गजेंद्रमोक्षके आरंभमें "षट्दर्शनसारदर्शकपत्रक" औ ८ वें पृष्ठसें श्रीपंचदशीकी अलौकिकमुद्रणशैलीविषै अर्वाचीनविद्वानोंके अभिप्राय छापेहैं ॥ उक्तअभिप्राय संक्षेपसैं श्रीविचारसागरके अंतमें नाटकदीप है तिसके साथि बी दियेहैं ॥

श्रीपंचदशीमूलमात्र द्वितीयावृत्ति रु. १ इसमैं मुख्य

औ मध्यप्रसंग संस्कृतमैं रखेहैं । औ ग्रंथकी आदिविषै प्रसंगदर्शकअनुक्रमणिका रखीहै ॥ श्रीमद्विद्यारण्यस्वामीकृत उपनिषदोंका सारभूत पद्यात्मकअनुभूतिप्रकाशग्रंथ है। तिसमैंसैं अद्भुतरसवाले २२१ श्लोक निकासिके इसीहीं ग्रंथके अंतविषै "अनुभूतिप्रकाशसारोद्धारः" नामसैं रखेहैं ॥ तथा श्रीमद्भागवत । श्रीमद्भगवद्गीता । श्रीविवेकचूडामणि । आदिकवेदांतके प्रसिद्ध २० ग्रंथनमैंसैं आल्हादकारकप्रकीर्णश्लोकनकूं वी इसी ग्रंथके अंतमैं धरेहैं ॥ सुवर्णादिपंचरंग औ भ्रांतिचित्रयुक्त विलायतसैं मंगवायके अतिसुंदर पूठे कियेहैं ॥

श्रीविचारसागर औ वृत्तिरत्नावली चतुर्थावृत्ति रु. ४ इस आवृत्तिमैं अंकयुक्तपारिग्राफ (विभागन)की नवीनरूढी प्रविष्ट करीहै । तिससैं ग्रंथके भिन्नभिन्नविषय । तिनोंका समानअसमानापना। उत्तरोत्तरक्रम। शंकासमाधान । दृष्टांतसिद्धांत औ विकल्प । दृष्टिपातमात्रसैं विनाश्रम बुद्धिसैं ग्राह्य होवैहैं ॥ इस ग्रंथके उपरि ब्रह्मनिष्टपंडितश्रीपीतांबरजी महाराज जिनोंकी यथास्थितचित्रितमूर्ति ग्रंथके आदि-

भागविषै रखीहै । तिनोनैं ५५४ टिप्पण कियेहैं वे इस आवृत्ति-केलिये महाराजश्रीनैं कृपाकरिके पुनः संशोधन कियेहैं ॥ वृत्ति-रत्नावलिनामक ब्रह्मनिष्ठपंडित श्रीपीतांबरजी महाराजकृत ग्रंथ जो तृतीयावृत्तिविषै दीयाथा । सो बहुत संशोधनसहित चतुर्था-वृत्तिके अंतविषै बी रखाहै ॥ ग्रंथके भीतर अंकयुक्त प्रसंग-दर्शकवाक्य। प्रसंगदर्शक औ बडीअकारादि अनुक्रमणिका। निर्गुणउपासनाचक्रकाचित्र। श्रीपंचदशीगत महावाक्यविवेक औ नाटकदीप । श्रीसुंदरविलासगत ग्रंथस्वप्रबोध तथा षट्दर्शनसार-दर्शकपत्रक धरेहैं ॥ ग्रंथकी जिल्द सुवर्णादिअनेक-रंगयुक्त गजेंद्रमोक्षके । भवसागर तथा विचारसागरके । औ भ्रांतिदर्शनके अनेकसार्थचित्रोंसैं अत्यंतसुशोभित औ आकर्षक करीहै ॥

श्रीविचारचंद्रोदय षष्ठावृत्ति रु १॥ षोडशकलायुक्त

यह ग्रंथ ब्रह्मनिष्ठपंडितश्रीपीतांबरजी-महाराजकरि स्वतंत्र रचित है ॥ ब्रह्म-साक्षात्कारविषै अवश्यउपयोगी ऐसी सर्वप्रक्रिया संक्षेपतें यामैं है ॥ आदिसैं अंतपर्यंत प्रश्नोत्तररूप है॥ इस आवृत्तिके लिये पूज्यमहाराजश्रीनै अनुग्रह करीके ग्रंथभाग औ टिप्पणभागका पुनः संशो-धन कियाहै ॥ सुगमताअर्थ अंकयुक्त **पारेग्राफनकी नवीनरूढि** इस आवृत्तिमैं बी है॥ प्रत्येक-कलाके आरंभमैं **तिसका सारांश** पद्यमैं दियाहै । जिसके कंठ करनैसैं वे कलाका रहस्य सहज स्मृतिमैं रहताहै॥ आरंभमैं **अकारादिअनुक्रमणिका** औ अंतविषै षोडश-वींकलामैं **लघुवेदांतकोश** है ॥ पूज्यमहाराजश्रीकी **यथा-स्थितचित्रितमूर्ति** तिनोंके **हस्ताक्षर** औ **विस्तृत-जीवनचरित्रसहित** ग्रंथारंभमैं रखीहै॥ **भ्रांतिदर्शकचित्र**-आदिकनवीनतासैं **पूंठे अतिसुंदर कियेहैं** ॥ जीवब्रह्मका भेद सत्य नहीं । किंतु मात्र उपाधिकृत है । यह महान-सिद्धांत इसग्रंथकी ११ वीं कलाविषै अनेकदृष्टांतसैं निरूपण कियाहै । तिसकूं यथास्थित समजनैमैं सहायभूत होवैं ऐसे **चार चित्र** अतिश्रम औ खर्च करीके ग्रंथारंभमैं छापेहैं ॥

श्रीसुंदरविलास ज्ञानसमुद्र सुंदरकाव्य पंचमावृत्ति । विपर्ययअंगकी संपूर्णटीकासहित । संक्षिप्ताकारसैं । नवीनतायुक्त तैयार होतीहै ॥

श्रीसटीका अष्टावक्रगीता तृतीयावृत्ति रु. १ इस ग्रंथरूपसैं महात्माश्रीअष्टावक्रमुनिनैं जनकराजाकूं उपदेश दियाहै ॥ आत्मानुभवोद्गारयुक्त स्पष्टवचन जैसै इस ग्रंथमें हैं तैसै अन्य कोई वी ग्रंथमें नहीं हैं ॥ इस ग्रंथमें **संपूर्णसंस्कृत**मूल तथा टीका औ मूलका ब्रह्मनिष्टपंडितश्रीपीतांवरजीमहाराजकृत सरल अरु विस्पष्ट **प्राकृतभाषांतर** हैं ॥ यह **तृतीयावृत्ति**में संस्कृतविभाग श्रीपंचदशीसटीकासभाषाकी अलौकिकरूढिसैं छाप्याहै ॥ **"रिकावमें चरण औ ब्रह्मउपदेश"** यह गाथा औ तिसका तादृशचित्र वडेयत्नसैं इस आवृत्तिमैं दियेहैं ॥ तदुपरांत **"आधुनिकविद्याविलास"** नामसैं वेदांतानुसारी २५ मनहरछंद दियेहैं ॥ श्रीपंचदशीके **प्रस्ताविक १७ श्लोक** अन्वयांकसहित रखेहैं॥

श्रीवेदांतविनोद अंक ७ का रु. ०॥ इस नामवाले भिन्नभिन्न ७ लघुग्रंथ छापेहैं । तिसविषै वेदांतके **अनेकस्तोत्रआदिक** अन्वयांकयुक्त अर्थसहित रखेहैं ॥

***श्रीमनोहरमाला औ सर्वात्मभावप्रदीप रु. ० ॥=** स्वामीश्रीत्रिलोकरामजीकृत **मनोहरमाला** कवित्तमैं है ॥ तिनोंका विस्तृतजीवनचरित्र वी ग्रंथारंभमैं रखाहै ॥

सर्वात्मभावप्रदीप ब्रह्मनिष्ठपंडितश्रीपीतांवरजीमहाराजकृत वैतछंदमें है ॥ उभयग्रंथनकी कविता सरल। प्रिय औ आत्मज्ञानकी बोधक है ॥ सर्वमिलिके ५५८ **टिप्पण** दियेहैं ॥

***वेदांतके मुख्यदशउपनिषद्**—संपूर्णमूलसहित औ मूलकी। श्रीशंकरभाष्यकी। औ आनंदगिरिटीकाकी ब्रह्मनिष्ठपंडितश्रीपीतांवरजीमहाराजकृत भाषासहित वडेअक्षरोंसें छपीहैं ॥ सर्वत्र गहनविषयकी टिप्पणोंसें स्फुटता करीहै ॥ ये सर्वउपनिषद् सुवर्णके नामयुक्त जिल्दमें बांधीहैं ॥

***ईशाद्यष्टोपनिषद् द्वितीयावृत्ति रु. ४**

***छांदोग्योपनिषद् रु. ६**

***बृहदारण्यकोपनिषद् तीनविभागमें रु.१०**इसके आरंभमें दशोपनिषदोंके तात्पर्यका निर्णायक ब्रह्मनिष्ठपंडितश्रीपीतांवरजीमहाराजकृत "**श्रुतिषड्लिंगसंग्रह**"इस नामयुक्त लघुग्रंथ वी धर्याहैं ॥

***श्रीमद्भगवद्गीता। चित्रितकपडेके पूंठेवाली रु. ४ औ सादेकपडेके पूंठेवाली रु. ३** इस गीताकी टीका ब्रह्मनिष्ठपंडितश्रीपीतांवरजीमहाराजनें बहुत सुगमता औ स्फुटतायुक्त रचीहै ॥ श्लोकनके पदच्छेद औ अन्वय नवीनरूढीसें छापेहैं ॥ सर्वमिलिके ४५५ टिप्पण दियेहैं ॥

श्रीवेदांतपदार्थमंजूषा द्वितीयावृत्ति नवीनरूढियुक्त **तैयार होतीहै** ॥ मूलचंद्रज्ञानीकृत यह वेदांतकोशरूप

ग्रंथ वेदांतविषै उपयोगी पदार्थविवेचनका विशालभंडार है ॥

"સૉક્રેટિસનું જીવનચરિત્ર અને પ્લેટોનાં
પ્રશ્નોત્તર" તૃતીયાવૃત્તિ છપાય છે.

ભાષાંતર કરનાર અલાદીન શરીફ સાલેમહંમદ.

આ લઘુ ગ્રંથમાં ગ્રીસદેશના વિદ્વાન અને તત્ત્વજ્ઞાની સૉક્રેટિસનું જીવનઆખ્યાન, તથા "શહેરીનો સ્વધર્મ" અને "માતાપિતા પ્રત્યે પુત્રનો મુખ્ય ધર્મ" એ નામક નીતિસૂચક બે સંવાદો આપેલા છે. આ ગ્રંથ ઈંગ્રેજ સરકારના કેલવણી ખાતાએ ઇનામ તથા લાઇબ્રેરીમાટે મંજૂર કર્યોછે.

"વિશ્વભેદ" અથવા

'૧૨૦૦૦ વર્ષ પૂર્વે હિંદુસ્થાન'

સ્વતંત્ર, ઐતિહાસિક, વેદાંતવિષયક, અપૂર્વ નવલકથા

કીંમત રૂ. ०॥।.

રચનાર— અલાદીન શરીફ સાલેમહંમદ.

આ ગ્રંથ વાર્તારસની મધુરતા અને રચનાની અલૌકિકતાને લીધે આદિથી અંતપર્યંત વાચકના ચિત્તને એકસ રખું આકર્ષી રાખેછે, અને સાનંદાશ્ચર્યમાં તલ્લીન કરી મૂકે છે. એટલુંજ નહીં પણ ધર્મ, નીતિ, અને તત્ત્વજ્ઞાન-(વેદાંત) ના અસરકારક બોધથી અંતઃકરણને વધારે નિર્મળ અને સુસંસ્કારવાન કરેછે. આ ગ્રંથને માટે વિદ્વજ્જનોએ ઉચ્ચ અભિપ્રાયો આપ્યા છે.

॥ श्रीअष्टावक्रगीता ॥

श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिता

ब्रह्मनिष्ठपंडितश्रीपीतांबरकृतभाषायुक्ता च ।

तस्या इयं तृतीयावृत्तिः

मुमुक्षुजनहितार्थं

सालेमुहंमदनूरान्यात्मजशरीफाह्वयेन

मुंबापुर्यां

निर्णयसागराभिधमुद्रणयन्त्रालये बाळकृष्ण रामचंद्र
घाणेकर इत्यनेन मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीता ॥

॥ श्लोकः ॥

तावद्गर्जंति शास्त्राणि जंबुका विपिने यथा ॥
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदांतकेसरी ॥ १ ॥

संवत् १९६६—सन् १९०९

॥ शार्दूलविक्रीडितम् ॥

संपूर्णं जगदेव नंदनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमा
गांगं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः ।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥ १ ॥

॥ ॐ गुरुदेवाय नमः ॥

॥ अथाष्टावक्रगीताप्रथमावृत्ति-प्रस्तावनिका ॥

वेदांतशास्त्रग्रंथेषु श्रीअष्टावक्रगीतानामको ग्रंथोऽतिप्रसिद्धोऽस्ति ॥ यद्यप्यस्मिन्ग्रंथे पंचदश्यादिवद्विशेषेणात्मानात्मादिविचारो न स्पष्टीकृतस्तथाप्यस्मिन्ग्रंथे मुमुक्षूणां ज्ञानिनां च संतोषकारकाणि स्वानुभवोद्गारयुक्तानि वचनानि यथोपलभ्यन्ते न तथान्यग्रंथेषु॥ अस्य ग्रंथस्य हिंदुस्थानीभाषाटीका पूर्वमंकितास्ति तथापि सा श्रीमद्विश्वेश्वरकृतसंस्कृतटीकासदृशी तत्त्वबोधकारिणी नास्तीति निश्चित्येमां सटीकाष्टावक्रगीतामंकयितुं प्रवृत्ता वयं ब्रह्मनिष्ठ-

श्रीपंडितपीतांवराभिधान् गुरून्स्वमनीषितं विज्ञापितवन्तः ॥

येषां जन्माखिलजगत्कल्याणपरंपराकारणमेवेहास्ति यैः सिद्धांतार्थवुभुत्सूनां मुमुक्षूणामनायासेनार्थवोधसिद्धये पंचदश्यादिग्रंथानां भाषाटीका विरचितास्ति । उत च वेदांतसिद्धांतप्रतिपादका विचारचंद्रोदयाद्या नूतना ग्रंथाः संग्रंथिताः । तैः परमकृपयेमं सटीकमष्टावक्रगीताख्यं ग्रंथं संशोध्यानायासतो मूलार्थवोधिनीं भाषाटीकां च विधाय तत्सहितोऽयं ग्रंथोऽस्मभ्यमंकनार्थमर्पितः ॥

शरीफ सालेमहंमद ॥

॥ ॐ गुरुदेवाय नमः ॥

॥ प्रथमावृत्तिकी भाषाप्रस्तावना ॥

वेदांतशास्त्रोंविषै यह श्रीअष्टावक्रगीता-ग्रंथ अतिशय प्रख्यात है॥ यद्यपि इस ग्रंथ-विषै पंचदशीआदिकग्रंथनकी न्यांई प्रक्रि-या विशेषकरिके हैं नहीं। तथापि मुमुक्षु औ ज्ञानीपुरुषोंकूं आनंद होवै। ऐसे अनुभवोद्गारयुक्त स्पष्ट वचन जैसै इस ग्रंथमैं हैं। तैसै अन्यग्रंथोंमैं क्वचित्‌हीं मिलेंगे ॥ हिंदुस्थानीभाषामैं इस ग्रंथकी टीका पूर्व छपीहै तथापि सो वेदांतविषै अतिउपयोगी नहीं है॥ इस ग्रंथकी संस्कृत-टीका मेरेकूं प्राप्त भई। सो देखिके बहुत-सत्संगीमित्रोंको इच्छा भई जो इसकूं छपाइ-के प्रगट करीचाहिये। तब मैंने ब्रह्मनिष्ठ-

पंडित श्रीपीतांवरजीमहाराजकूं प्रार्थना करी॥ उनोंका शरीर जगत्के कल्याणअर्थ- हीं उत्पन्न हुयाहै। सो उनोंके पंचदशी- आदिकग्रंथोंके भाषांतरकरि औ श्रीविचार- चंद्रोदयआदिक स्वतंत्रग्रंथोंकी रचनाकरि स्पष्ट होवैहै ॥ जीवोंके पुण्यप्रारब्धके वशतैं उक्तमहाराजश्रीजीनैं इस अतिउत्तम- ग्रंथकूं शोधन करी दिया औ संस्कृतविषै लघुमतिवालोंकूं शीघ्र संस्कृतका वोध होवै। ऐसा सुंदर संक्षिप्त मूलमात्रका हिंदुस्थानी भाषांतर करी दिया ॥

शरीफ सालेमहंमद ॥

॥ ॐ गुरुदेवाय नमः ॥

॥ तृतीयावृत्तिकी प्रस्तावना ॥

हमारे प्रसिद्ध कियेहुये ग्रंथोकी नवीन-आवृत्तिमैं नवीनता औ अधिकता करीके ग्रंथके उपयोगीपनैविषै अभिवृद्धि करनैकी इच्छातैं इस तृतियावृत्तिविषै हमनै जो विशेषता करीहै। सौ नीचे दिखावैहैः—

१– प्रथम तौ इसआवृत्तिविषै संस्कृत औ भाषाविभागनकूं पृथक् पृथक् छापैहैं। तातैं संस्कृतके जिज्ञासुनकूं संस्कृतविभाग औ भाषाके जिज्ञासुनकूं भाषाविभाग अलग प्राप्त होवैगा ॥

२– श्रीपंचदशीसटिकासभाषाविषै जो अलौकिकमुद्रणशैलि हमनै प्रविष्ट करीहै

औ जिस मुद्रणशैलिकी प्रशंसा विद्वज्जनोंनैं करीहै । तिसीहीं शैलिसैं इसआवृत्तिका संस्कृतविभाग छापा गयाहै। तातैं संस्कृतके अभ्यासीनकूं अभ्यासविषै औ समजनैविषै अत्यंतसुगमता होवैगी ॥

३– मूलश्लोक औ संस्कृतअन्वयके साथि भाषाविभाग मिलायके अवलोकन करनैकी जिनकी इच्छा होवै तिनोंकी सुगमताअर्थ भाषाविभाग जो पृष्ठ २४१ सैं आरंभ होवैहै । तिसविषै प्रत्येकश्लोकके अर्थमैं अन्वयके अंक दिये गयेहैं । इतनाहीं नहीं परंतु मूलमात्रके अर्थदर्शक शब्दनकूं स्थूलाक्षरसैं छापेहैं ॥

४– परमपूज्यब्रह्मनिष्ठपंडितश्रीपीतांबरजीमहाराज संवत् १९६१ के वैशाख कृष्ण-

पक्ष ७ गुरुवारके रोज परमधामकूं पहुंचे तिनोंनै मुमुक्षुनंपर अनुग्रह करीके इस-आवृत्तिके लिये ग्रंथभागका पुनः सं-शोधन कियाथा ॥

५– आधुनिक पाश्चात्यविद्या (सायन्स) के विद्वानग्रंथकारोनैं पदार्थ (मेटर)। अवकाश । प्रकाश । समय । गति औ ख-गोलआदिकविषै जे स्वतंत्रविचार प्रदर्शित कियेहैं। वे वेदांतके अभ्यासीनकूं अवलोक-नीय हैं। कारणकी तातैं यह अखिलसंसार-का अनादिपना । व्यभिचारिपना । असार-पना । औ कल्पितपना । जो वेदांतमतकूं मान्य है। सो अत्यंतस्फुट होवैहै ॥ आधु-निक पाश्चात्यविद्याके अनेकग्रंथनके अव-लोकनसैं मेरे मनविषै विचारका जो स्फुरण

भयाहै। ताके उद्धाररूप २५ छंद मैंनै यथामति रचेहैं। सो "आधुनिकविद्याविलास" नामसैं ग्रंथके अंतविषै छापेहैं ॥

६– यह श्रीअष्टावक्रगीतारूपसैं श्रीअष्टावक्रमुनिनै जनकनामकराजाकूं "रिकावमैं चरण औ ब्रह्मका उपदेश" इस प्रसंगसैं बोध दियाथा। ऐसी जो दंतकथा है सो मुमुक्षुनके आनंदअर्थ ग्रंथारंभमैं छापीहै औ तिस प्रसंगका सूचक एक तादृशउत्तमचित्र बी बडेखर्चसैं बनवायके इस आवृत्तिमैं धर्याहै ॥

७– श्रीपंचदशीके प्रस्ताविक १७ श्लोक अन्वयांकसहित ग्रंथके अंतमैं रखेहैं ॥

शरीफ सालेमुहम्मद नूरानी ॥

॥ श्रीअष्टावक्रगीतानुक्रमणिका ॥

॥ इति श्रीअष्टावक्रगीतानुक्रमणिका समाप्ता ॥

॥ श्रीअष्टावक्रगीता । तृतीयावृत्ति ॥

॥ जनकराजा औ श्रीअष्टावक्र-मुनिकी गाथा ॥

॥ रिकावमैं चरण औ ब्रह्मका उपदेश ॥

जन्ममरणरूप प्रवाहवाले यह संसाररूप दुस्तरसागरकूं उलंघन करीके मोक्षरूप पारकूं पहुंचावनैविषै "ब्रह्मज्ञान" वा अन्य-शब्दमैं कहिये तौ "वेदांतविद्या" विना तौ अन्य कोईवी विद्या समर्थ नहीं है। यह सिद्धांतके निरूपणअर्थ श्रीमच्छंकराचार्यनै श्रीविवेकचूडामणिविषै कह्या है:—

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा॥

ऐसैं होनैतैं महात्माजनोंनै यह ज्ञान-विद्याकूं अन्य सर्वविद्याओंमैं शिरोमणी कहीहै॥

श्रीकृष्णभगवाननैं वी श्रीमद्भगवद्गीता-विषै कह्याहै किः—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययं ॥

ऐसैं ब्रह्मज्ञानरूप विद्या सर्वविद्याओं-मैं पवित्र ओ सर्वोत्तम होनैतैं अतिदुर्लभ है औ सामान्यतः मनुष्यनकूं अनेक-जन्मांतरसैं प्राप्त होवैहै । ऐसा जो कथन शास्त्रकारोंनै कियाहै सो केवल वास्तविक है । कारणकी उत्तम मध्यम औ कनिष्ठ । ऐसैं अधिकारिनके तीनवर्गमैं जैसैं उत्तम-अधिकारिनकी संख्या अतिअल्प है । तैसैं कनिष्ठअधिकारिनकी संख्या अति-विस्तृत है ॥ इसीहीं अर्थका सम्यक् निरू-पण श्रीकृष्णभगवाननैं श्रीगीताजीविषै नीचे दिये श्लोकसैं कियाहैः—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

शास्त्रकारोनैं ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिविषै सामान्यतः अनेकजन्मांतरकी जो आवश्यकता लिखीहै । सो कनिष्ठअधिकारिनके मलविक्षेपरूप आवरणोंकी निवृत्तिके दुःसाध्यपनेकी दृष्टिसैं लिखीहै । परंतु जिन अधिकारिनके मलविक्षेपरूप आवरण नष्ट भयेहैं । तिनोकूं तौ सर्वोत्तमसाधनोके सद्भावतैं इसीहीं जन्मविषै ब्रह्मज्ञान संभवेहै इतनाहीं नहीं । परंतु अतिशीघ्र कहिये ब्रह्मनिष्ठसद्गुरुके मुखसैं "तत्त्वमसि" आदिकमहावाक्यरूप महामंत्रके श्रवण करतैंहीं प्राप्त होई जावैहै ॥

जनकराजा उत्तमोत्तम अधिकारी भयेहैं । तिनोकूं अश्वारूढ होनैमें एकरिकावमें

चरण राखिके दूसरा चरण अन्यरिकाब-मैं पहुंचे । तितनै अल्पसमयमैं ब्रह्म-साक्षात्कार कैसैं भया । यह वार्त्ता हमारे परमकृपालु परमपूज्य ब्रह्मश्रोत्रीय ब्रह्म-निष्ठ सद्गुरु पंडितश्रीपीतांवरजीमहाराज-सैं श्रीअष्टावक्रगीताके व्याख्यानप्रसंगमैं वहुतवर्षोंके पूर्व हमनै श्रवण करीथी । सो यथास्मृति जिज्ञासुनके वोध औ आह्लाद-अर्थ हम नीचे वर्णन करैहैः—

प्राचीनकालविषै एक अत्यंतवुद्धि-मान । राज्यकार्यमैं कुशल औ अनेकसद्गु-णोकरि अलंकृत ऐसा जनकनामक एक श्रेष्ठराजा राज्य करताभया ॥ तिनकी राज्यसभामैं तिनके कुलगुरुका एक परम-आस्तिक ब्राह्मणपुत्र नित्य शास्त्रका श्रवण

करावताभया ॥ एकसमय उत्तमअधि-
कारीके प्रसंगमैं वे शास्त्रविषै "रिकावमैं
चरण औ ब्रह्मका उपदेश" ऐसा वाक्य
वे कथाकारनै पठन किया ॥ इस वाक्यकूं
श्रवण करीके जनकराजा अत्यंत आश्चर्य
भये औ तिनोंनै वे ब्राह्मणपुत्रके प्रति प्रश्न
कियाः—हे महाराज ! "रिकावमैं चरण औ
ब्रह्मका उपदेश" यह शास्त्रका वाक्य सत्य
है वा असत्य है ?

ब्राह्मणपुत्रनै प्रत्युत्तर दियाः— हे रा-
जन् ! ये महापवित्रशास्त्रविषै जो कथन
है सो केवल यथार्थ है । तामैं आप किं-
चित वी शंकाकूं मति करौ ॥

जनकराजानै फेर कहाः— महाराज !
हमारी बुद्धिमैं तौ सो उक्ति केवल असंभ-

वित भासतीहै ॥ यदि वे कथन यथार्थ होवै तौ मैं इसी समय अश्व मंगायके आरूढ होऊं औ एकरिकाबमैं चरण धरिके अन्यरिकाबमैं दूसराचरण स्थित करूं तितनैं समयमैं आप मेरेकूं ब्रह्मोपदेश देके ताकी सत्यता प्रतिपादन करौ ॥

ब्राह्मणपुत्रनै उत्तर दियाः—हे राजन्! यद्यपि शास्त्रवचन कदाचित वी असत्य होवै नहीं तथापि ताकी सत्यता आपकूं प्रतिपादन करनैका मेरेमैं सामर्थ्य नहीं है॥

जनकराजानै फेर कह्याः—हे महाराज! आपके जैसै विद्वानमैं तैसा सामर्थ्य नहीं है तौ वे वाक्यकी सत्यता कैसैं मानतेहो? हम ऐसी अशक्यउक्तिकूं सिद्धिकरणके अभावतैं केवल कल्पनारचित गिनतैहैं ॥

यातें वे वाक्यकी सत्यता प्रदर्शित करनेकूं आप असमर्थ हो तौ वे वाक्यकूं छेदन करौ ॥

ब्राह्मणपुत्रनै राजाकूं किंचित् क्रोधायमान देखिके नम्रतासैं उत्तर दियाः—हे राजन्! शास्त्रोक्त पवित्रवचनकूं मैं कदाचित बी छेदन नहीं करुंगा । कारणकी उक्तवचनकी सत्यताविषै मेरेकूं लेश बी शंका नहिं है ॥

ऐसैं सुनिके जनकराजा अत्यंत क्रोधित भये॥ तिनोंनै वे कथा करनैवालेकूं कारागृहविषै डार्या औ नगरके अन्य सर्वब्राह्मणोकूं कचेरीविषै आमंत्रण किये औ तिनोंके सन्मुख बी शास्त्रके उक्तप्रसंगकूं धरिके पूछ्याः— हे विद्वज्जनो! इस शास्त्रविषै

"रिकाबमैं चरण औ ब्रह्मका उपदेश" ऐसा वाक्य लिख्याहै सो क्या सत्य है?

सर्वजनोंनै एकध्वनिसैं उत्तर दिया कि सत्य है ॥

जनकराजानै फेरि कह्याः— तौ यह अश्व तैयार है। तुमारेमैंसैं कोईमैं सामर्थ्य होवै तौ यह वार्त्ताकी सत्यता प्रत्यक्षप्रमाणसैं सिद्ध करौ। वा इस वाक्यकूं छेदन करौ॥

सर्वब्राह्मणोंनैं अपनी अशक्तता निवेदन करी औ शिक्षा सहन करैंगें परंतु वाक्यकूं कदाचित् बी छेदन नहीं करैंगे ऐसैं दृढतासैं कह्या ॥

उक्तउत्तरकूं श्रवण करीके जनकराजानैं तिन सर्वब्राह्मणनकूं बंधनगृहविषै भेजें औ नगरके द्वारपालोंकूं आज्ञा करी की कोई बी

ब्राह्मण नगरमैं प्रवेश करै तिसकूं हमारे पास ले आवनां ॥ ऐसैं नगरविषै कोईवी नवीन ब्राह्मण प्रवेश करताथा तिसकूं जनकराजा उक्तप्रकारका प्रश्न करीके पीछे बंधनविषै डारता भया ॥ जनकाराजाका यह त्रासदायकवर्त्तन देशप्रदेशविषै प्रसिद्धि-कूं पाया । तातैं कोईवी ब्राह्मण तिनके नगरविषै प्रवेश करता नहीं था ॥ कित-नेक कालपीछे भाग्यवशात श्रीअष्टावक्र-मुनीका तिस नगर समीप आगमन भया ॥ मुनिश्री नगरके वाहिर एकवृक्षके नीचे बैठिके विश्राम लेतेथे । तहां दो पंथिक ब्राह्मण वी आयके बैठै ॥

श्रीअष्टावक्र मुनीनैं तिनोंकूं पूछ्याः—इस नगरविषै कोन राजा राज्य करताहै ?:

ब्राह्मणोनैं कह्याः–हे मुनि! आपकूं क्या प्रयोजन है? क्या आपकूं इसनगरमैं जानाहै?

अष्टावक्रमुनीनैं हा कह्या। तब वे ब्राह्मण कर जोडिके प्रार्थना करतेभये किः– हे मुनिवर! आप कृपा करिके नगरविषै कदाचित् वी प्रवेश नहीं करना। कारण कि इसनगरके राजा जनकका अत्यंत त्रास वर्त्तताहै॥ तिनोनैं अपनै दुराग्रहसैं अनेक ब्राह्मणनकूं बंधनगृहविषै डारेहैं। औ कोई वी नवीन ब्राह्मण दुर्भाग्यवशात् नगरविषै प्रवेश करताहै तौ तिसकूं वे राजा "रिकाबमैं चरण औ ब्रह्मका उपदेश" ऐसैं एक शास्त्रोक्त वचनकी सत्यता प्रत्यक्षप्रमाणसैं सिद्ध करनैकी आज्ञा

करताहै औ तैसैं सिद्ध न करै तौ तत्काल बंधनविषै डारताहै ॥

उक्तवार्ताकूं तिन पंथिकनसैं श्रवण करिके श्रीअष्टावक्रमुनी कहतेभये:– हम चलनेमैं असमर्थ हैं। तातैं तुम एक मंचमैं बिठायके हमारेकूं जनकराजाके सन्मुख लेचलौ तौ तिनकूं वे शास्त्रोक्तवाक्यकी सत्यता हम प्रतिपादन करी देवैंगे औ तातैं सर्वब्राह्मणनकूं बंधनसैं मुक्त बी करावैंगे ॥

अष्टावक्रमुनिका गंभीरता औ दृढतायुक्त कथन सुनिके वे पंथिकनकूं निश्चय भया कि मुनीश्वर ब्रह्मणोंका दुःख अवश्य निवारण करैंगे ॥ तिनोंनै त्वरित एकमंचविषै मुनिमहाराजकूं बिठाये औ जनकराजाके समीप राज्यसभामैं लेगये ॥

अष्टावक्रमुनिकी भव्य औ तेजस्वी मुख-
मुद्रा देखिके जनकराजाकूं तत्काल तिनोके
प्रति पूज्यबुद्धि उत्पन्न भई॥ राजानै साष्टांग-
नमस्कार करीके औ उभयकर जोडिके
प्रार्थना करीः—हे मुनीश्वर! किस प्रयोजन-
अर्थ आपका यहां आगमन भयाहै।
सो कृपा करिके कहो ॥

अष्टावक्रमुनिनै कह्याः—हे राजन्! किस
अपराधके लिये तुमनै ब्राह्मणोंकूं कारागृह-
विषै डारेहैं?

जनकराजानै उत्तर दियाः—हे मुनिवर!
"रिकावसैं चरण औ ब्रह्मका उपदेश"
ऐसी शास्त्रोक्त काल्पनिकउक्तिकूं वे सर्व-
ब्राह्मण प्रतिपादन करनैकूं असमर्थ हुये वी
तिसकी यथार्थताविषै दुराग्रहकूं करतेहैं॥

अष्टा॰– हे राजन् ! तुमारा तर्क यथान्याय नहीं है ॥ तिनोंकी प्रतिपादन करनेकी अशक्तितें वे वाक्यका काल्पनिकपना सिद्ध नहीं होताहै ॥ मैं प्रतिज्ञा करताहूं कि "रिकाबमैं चरण औ ब्रह्मका उपदेश" यह शास्त्रोक्तवचन मिथ्या नहीं है। किंतु अक्षरसह केवलसत्य है ॥

जनकः– हे मुनिओंविषै श्रेष्ठ ! आप आज्ञा करौ तौ मैं अश्वकूं मंगाउं ॥ आप कृपावधि करिके मेरेकूं तिसप्रकारसैं ब्रह्मोपदेश करौ औ उक्त वाक्यकी सत्यता मेरेकूं प्रतिपादन करौ। ऐसी मेरी नमनयुक्त प्रार्थना है ॥

अष्टा॰– हे राजन् ! मैं तुमारा शुभभाव देखिके प्रसन्न हुवाहूं ॥ तुमारेकूं कदाचित्

ज्ञात नहीं है कि ब्रह्मज्ञानरूप पवित्र उप-
देश अपात्र जनोंकूं दिया जाता नहीं।
औ देवैं तौ अपात्रकूं तासैं किंचित् बी
लाभ होता नहिं ॥ तातैं हे राजपुत्र!
तुमारेकूं ब्रह्मोपदेशकी यदि अभिलाषा होवै
औ हमारेविषै पूर्णश्रद्धा होवै । तौ बंधन-
विषै डारेहुवे ब्राह्मणनकूं प्रथम मुक्त करौ
औ पीछे अश्वारूढ होइके हमारे संग
वनविषै चलौ ॥ तहां एकांत औ निर्जन-
स्थलविषै मैं तुमारी पात्रताकी परीक्षा करी-
के वे शास्त्रोक्त वचन सिद्ध होवै तिस
प्रकार तुमारेकूं ब्रह्मका उपदेश करूंगा ॥

अष्टावक्रमुनिकी दृढतायुक्त वाणी श्रवण
करीके जनकराजाकूं तिनोकेविषै परम-
आस्था उत्पन्न हुई ॥ जनकराजानैं तत्काल

सर्वब्राह्मणोंकूं बंधनगृहसैं मुक्त करनैकी आज्ञा करी ॥ आप अश्वारूढ भये। औ मुनिवरकूं एक उत्तममंचिलविषै आरूढ करिके। प्रधान । सैन्याधिपति आदिक राज्यमंडल औ प्रतिष्ठित प्रजाजनोंसहित वनविषै पहुंचे ॥ तहां एक घनघटावाले वटवृक्षके नीचे किंचितकाल विश्राम करीके जनकराजानैं सर्वराज्यमंडल औ प्रजा-जनोंकूं नगरविषै चलै जानैकी आज्ञा करी। तातैं वे सर्व नगरविषै शीघ्र पीछे पधार-नैकी विज्ञप्ति करिके तहांसै विदाय भये ॥

जब मुनि औ राजा एकाकिन रहे। तब जनकराजा अष्टावक्रमुनिकी आज्ञा ले के अश्वकी एकरिकावमैं चरणकूं स्थित क-रीके आरूढ होनैकूं तत्पर भये ॥ इससमय

अष्टावक्रमुनीनै अपनै हाथसैं धैर्य रखनैकी संज्ञा करी (देखो ग्रंथारंभमैं दिया चित्र) औ कहाः– हे राजपुत्र! दूसरा चरण उठानैसै पूर्व हमारे प्रश्नोंके उत्तर देओ ॥

जनकः– आज्ञा महाराज!

अष्टावक्रः– "रिकावमैं चरण औ ब्रह्मका उपदेश" यह एकहीं वाक्य उक्तशास्त्रविषै लिख्या है? वा कछु अन्यवार्त्ता बी लिखी है?

जनकः– अन्य तौ बहुत बी लिखाहै ॥

अष्टाः– तिस शास्त्रविषै ब्रह्मज्ञानके लिये कोई गुरु करना चाहिये ऐसा विधान है वा नहीं?

जनकः– हा महाराज। गुरु करनैकी आवश्यक्ता विधान करीहै ॥

अष्टाः- तब हे राजन्! तुम मेरेकूं अपनै गुरु किये विना क्या उपदेश लेनैकूं इच्छतेहो?

जनकः- नहीं महाराज। मैं शास्त्रविधिपूर्वक उपदेश लेनैकूं उत्सुक हूं औ तातैं मैं आपकूं मेरा गुरु स्थापित करताहूं॥

अष्टाः- उक्तशास्त्रविषै गुरुके प्रति कुछ दान देनैका लिखाहै?

जनकः- हां महाराज। मैं इसीहीं क्षण प्रतिज्ञा करिके शास्त्रवचनानुसार मेरा तन मन औ धन। ये तीनों आपके चरणकमलमैं अर्पण करताहूं॥ यातैं हे भगवन्! अब अनुग्रह करिके मेरे तांई ब्रह्मका उपदेश करौ॥

अष्टावक्रमुनि। राजपुत्रकी उक्तप्रतिज्ञा

मुनिके तहांसैं दूर गमन करीके कोई गुफा-
विषै स्थित भये ॥ औ जनकराजा तौ
अश्वकी एकरिकाबविषै जैसै चरण राखिके
खडे थे तैसैंहीं तिसीहीं स्थलविषै गति-
रहित स्थित रहे ॥

सूर्यास्त होनैका समय समीप आया तौ
बी जनकराजा नगरविषै पुनः आये नहीं ।
तब प्रधानादिकराज्यमंडल अत्यंतचिंताग्रस्त
भये औ तत्काल वनविषै गये ॥ तहां देखा
तौ एक विशालवृक्षके समीप अष्टावक्रमुनि-
वाली मंचिल पडीथी । परंतु मुनिराज
कहींबी दृष्टिगोचर भयें नहीं औ जनक-
राजा तौ अपनै अश्वकी एकरिकावमैं चरण
राखिके चेतनरहित प्रतिमाकी न्यांई खडे
थे ॥ यह देखिके प्रधानआदिकसर्व अत्यंत-

भयकूं पाये ॥ प्रधान त्वरित राजाके स-
न्मुख गया। परंतु जनकराजानै तिसके
तांई दृष्टि वी करी नहीं। तव प्रधान-
नै उभयकर जोडिके विज्ञप्ति करी कि हे
राजन्! ऐसैं किस कारण खडे हो औ
क्या स्थिति है? परंतु जनकराजानै यत्-
किंचित् वी जव उत्तर दिया नहीं तव
सर्वनै निश्चय किया कि राजाके तांई मुनिनै
कछु मंत्रयोग कियाहै॥ अल्पसमयपर्यंत
मुनिकूं वहां ढूंढे। परंतु समीपमैं कहीं मिलै
नहीं। तव निराश होइके राजाकूं वहांसैं
उठायके नगरविषै ले आये औ राजमहल-
विषै एक उत्तमशय्यामैं सुलाये औ
अनेक आश्विकनकूं मुनिकी शोधअर्थ
वनविषै जानैकी औ मुनि जहां वी होवै

वहांसैं तिनकूं लाये विना पुनः नहीं आनेकी तिनोंकूं दृढ आज्ञा करी ॥ राजा तौ तिनोकूं जिस स्थितिमें शयाविषै डालेथे। तिसींहीं स्थितिमें पडे रहे॥ तिनोंनै न हस्त हिलाया। न चरण हिलाया। कि न एक वी शब्दका उच्चार किया॥ भोजनकी थालीयां लाके राजाके सन्मुख धरी। परंतु राजानै कछु वी ग्रहण किया नहीं ॥ जलपात्र राजाके मुखकूं धर्या परंतु राजानै यत्किंचित् वी पान किया नहीं ॥ राजाकी यह स्थिति देखिके राणीयां औ राजमंडल अत्यंतशोकनिमग्न भये औ यह वार्ता जव प्रजाजनोंनै जानि तव अखिलनगरविषै होहाकार हो रह्या ॥ अतिदुःखपूर्वक रात्रि व्यतीत भई औ सूर्योदय भया । परंतु

मुनिका कहीं वी पत्ता मिला नहीं ॥ जब सूर्यास्त हुवा तब एक सिपाई अष्टावक्र-मुनिकूं ले आया ॥

मुनिकूं देखिके प्रथम तौ प्रधानके हृदय-मैं अत्यंत क्रोध प्रज्वलित भया। परंतु मुनिकूं क्रोधायमान करनैसैं कार्यसिद्धि नहीं होवैगी औ विपरीत परिणाम होवैगा। ऐसैं विचारिके नम्रतायुक्त प्रश्न किया:-हे मुनिवर! हमारे राजाकूं आपनै मंत्रवलसैं क्या कियाहै?

मुनिनै उत्तर दिया:-तुमारे राजाउपर मंत्रप्रयोग करनैसैं हमारेकूं क्या प्रयोजन है? हमनै तौ तुमारे राजाके तांइ कछुवी नहीं कियाहै॥ तुम खुद राजाकूं क्यूं पूंछते नहीं?

राजा कछु वी उत्तर देते नहीं औ दोदिनसैं उपवासी हैं। आदिक सर्वस्थिति प्रधाननैं मुनिके तांई कहीके विज्ञप्ति करी कि "हे मुनिवर! हमारे राजा भोजन करै ऐसैं करौ" ॥

अष्टावक्रमुनिनै तत्काल कहा:—क्यूं जनक!

जनकः—आज्ञा महाराज!

अष्टाः—हमनै तेरेप्रति कुछ कीयाहै?

जनकः—नहीं महाराज॥ कौन कहताहै?

अष्टाः—जनक! तब क्यूं सोया पडाहै? आनंदसैं बैठ औ यह भोजन धर्याहै। सो भक्ष करीके क्षुधाकी तृप्ति कर॥

जनकराजा तत्काल बैठीके भोजन करनै लगै। सो देखिके सर्व कोई सानंदाश्चर्यमैं तल्लीन भये॥ भोजनकी समाप्ति होतेहीं

जनकराजा गतिरहित स्थित रहे। तातैं प्रधाननै पुनः विज्ञप्ति करीः—हे मुनिवर! कृपा करिके हमारे राजाकी स्थिति प्रथमके जैसी करौ ॥

यह सुनिके मुनिनै प्रधानआदिकसर्वकूं अपनै अपनै गृहविषै जानैकी आज्ञा करी औ आप एकाकिन् औ आंतरसैं द्वार वंध करीके जनकके समीप रहे॥ जव सर्व कोई चले गये तव अष्टावक्रमुनिनै जनककूं पूछ्याः—

हे राजन्! ऐसैं चेष्टारहित क्यूं हुवाहै?

जनकः—गुरुमहाराज! यह हाथ अव मेरे नहीं है। यह चरण मेरे नहीं है। यह जिव्हा वी मेरी नहीं है॥ यह चक्षु कर्ण आदिक कोई इंद्रियां मेरी नहीं है॥ यह राज्य वी मेरा नहीं है॥ संक्षेपतैं मेरा

कछु वी नहीं है ॥ यह तन मन औ धन-आपकूं सत्यप्रतिज्ञासैं मैंनैं अर्पण किये-हैं। तातैं यह सर्व अव आपकाहीं है ॥ आ-पकी आज्ञाविना मैं यत्किंचित् वी चेष्टा वा व्यवहार करनैकूं पात्र नहीं हूं ॥

जनकके अत्यंतश्रद्धायुक्त यह वचन सुनिके अष्टावक्रमुनि अत्यंत प्रसन्नताकूं पाये ॥ तिनोनै जनकके मस्तक उपरि अपना हाथ फिरायके कह्याः—

वच्चा जनक! मुमुक्षु किस प्रकारसैं ज्ञानका अधिकारी है ताकी प्रथम परीक्षा करनी आवश्यक है ॥ मैं जो तेरी परीक्षा करताथा ॥ मेरी अव खात्री भई है कि तूं ज्ञानका उत्तमोत्तमअधिकारी है ॥ "रिकाव-मैं चरण औ ब्रह्मका उपदेश" मात्र तेरे

जैसै अधिकारीकूंहीं संभवैहै। तातैं "हे पुत्र! तूं निश्चय कर कि तूं आपहीं ब्रह्मस्वरूप है ॥ तूं सदासर्वदा मुक्तहीं है ॥ तूं कृतकृत्य औ प्राप्तप्राप्य है ॥ औ तूं अखंड सुखरूपहीं है ॥"

यह सुनिके जनकराजा संकल्प करताभया कि मैं तौ परिच्छिन्न हूं। विकारी हूं। अज्ञानी हूं। तातैं ब्रह्मरूप कैसैं संभवुं। ऐसैं विचारीके जनकराजानै मुनिवरके प्रति प्रश्न किया:—"कथं ज्ञानमवाप्नोति........

यहांसैं अष्टावक्रगीताका आरंभ होवैहै॥

अष्टावक्रमुनिनै वे प्रश्नोका उत्तर दिया ॥ इसरीतिसैं यह श्रीअष्टावक्रगीताविषै दिये प्रश्नोत्तर। उपदेश औ आनंदोद्गारमैं सारी रात्रि व्यतीत भई ॥ जब सूर्योदय भया

औ आंतरगृहके द्वार खोले गये। तब प्रधानादिक सर्वराज्यमंडलनै आज्ञा मांगिके नमनसहित प्रवेश किया औ जनकराजाकूं आनंदनिमग्न देखिके हर्षकूं पाया ॥

इससमय अष्टावक्रमुनिनैं जनककूं पूछ्याः—

हे राजन्! "रिकावमैं चरण औ ब्रह्मका उपदेश" यह वचनविषै यदि तेरेकूं शंका हो तौ अश्वकूं लानेकी आज्ञा कर ॥

जनकः—हे भगवन्! अब मेरै हृदयमैं किंचित्मात्र वी शंका नहीं है ॥ शास्त्रका वे वचन केवल सत्य है औ मैं आपकी अपरिमितदयासैं कृतार्थ हुवाहूं ॥

॥ इति जनकराजा औ श्रीअष्टावक्रमुनिकी गाथा समाप्त ॥

॥ श्रीगुरुपरमात्मने नमः ॥

॥ ॐ सटीकाष्टावक्रगीता ॥
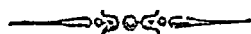
॥ आत्मानुभवोपदेशवर्णनं नाम प्रथमं प्रकरणम् ॥ १ ॥

॥ अथ टीकाकारकृतमंगलाचरणम् ॥

सच्चिदानंदमद्वैतं सर्वाधिष्ठानमुत्तमम् ।
नत्वाष्टावक्रसूक्तस्य दीपिका तन्यते परा ॥ १ ॥

॥ जनक उवाच ॥

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति ।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद्ब्रूहि मम प्रभो ॥ १ ॥

१] प्रभो ज्ञानं कथं अवाप्नोति । मुक्तिः कथं भविष्यति च वैराग्यं कथं प्राप्तं एतत् मम ब्रूहि ॥ १ ॥

२ इह खलु ज्ञानविज्ञानसंपन्नः परमकारुणिकोऽष्टावक्रमुनिः मुक्तिकामनया समुपेतं कंचिच्छिष्यं शमदमाद्यधिकारस्वीकारोपदेशपूर्वकमात्मतत्त्वमुपदिशति—

॥ अष्टावक्र उवाच ॥

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥ १ ॥

३] तात चेत् मुक्तिं इच्छसि। विषयान् विषवत् त्यज॥

४) तात इति सानुग्रहसंबोधने । हे शिष्य ! त्वं सर्वानर्थनिवृत्तिं परमानंदावाप्तिरूपां मुक्तिमिच्छसि चेत् । तर्हि विषयान्विषवत्त्यज । यथा विषं अनर्थहेतुत्वात्त्यज्यते तथा विषयान् देहादीननर्थहेतुभूतांस्त्यज । तत्राहं ममेत्यध्यासासक्तिं मा कार्षीरित्यर्थः ॥ अनेन बाह्यपदार्थानुषंगत्यागोपदेशेन बाह्येंद्रियनिग्रहरूपदमांगीकार उपदिष्टः ॥

५अथांतःकरणनिग्रहरूपशमांगीकारमुपदिशति-

६] क्षमार्जवदयातोपसत्यं पीयूषवत् भज ॥

७) **क्षमा** नाम सर्वसहनं सर्वाधिष्ठानत्वमात्म-धर्मः । **आर्जवं** नाम अविद्यारूपकुहकसंबंधाभावः सोऽप्यात्मधर्मः । **दया** नाम निरुपाधिकं सर्व-हितानुबंधित्वं सोऽप्यात्मधर्मः । **तोषो** नामात्मसुखं तदप्यात्मस्वरूपं । **सत्यं** नाम कालत्रयाबाध्यं स्वरूपं तदप्यात्मैव । एवंविधमात्मरूपं **पीयूष-वद्भज** ॥ क्षमादिकं । यथा पीयूषं अर्थहेतुत्वात् सेव्यते तथा सेवस्वेत्यर्थः ॥ शमदमादिसाधनचतु-ष्टयसंपन्नमधिकारिणं शिष्यं प्रति भगवानष्टावक्रो मुनिर्मुक्तिमुपदिशति ॥ १ ॥

८ ननु पांचभौतिको देह एवात्मा । तथा च भूतानां तद्धर्माणां च त्यागो न संभावितः । न हि पृथिव्यादीनां स्वभावभूतो गंधादिः कालत्रयेऽपि त्यज्यत इत्याशंक्य । पृथिव्यादिस्वरूपस्त्वं न भवसीत्याह—

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये॥२॥

९] भवान् पृथ्वी न । वा जलं न । अग्निः न । वायुः न । द्यौः न ॥

१०) हे शिष्य । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादिरूपस्त्वं न भवसि । ततस्त्वमनात्मधर्मान्विषयांस्त्यजेत्यर्थः ॥

११ नन्वहं गौरः स्थूलः कृष्णो ह्रस्व इत्यादिप्रतीतेः पांचभौतिको देह एवात्मा इत्यत आह—

१२] एषां साक्षिणं आत्मानं ॥

१३) एषां देहादीनां साक्षिणं एव आत्मानं विद्धि साक्षात्कुरु । तथा च । देहादेः साक्षी आत्मा देहादिभ्यो भिन्नः । यथा घटद्रष्टा घटाद्भिन्नस्तथेत्यर्थः ॥

१४ नैयायिकाभिमतमात्मानं निराकरोति—

१५] मुक्तये ॥

१६ आत्मज्ञानस्य फलमाह—

१७] चिद्रूपं विद्धि ॥ २ ॥

---

१८ आत्यंतिकी दुःखनिवृत्तिर्मुक्तिरिति नैया-यिकाः। दुःखप्रागभावपरिपालनं मुक्तिरितिप्राभाकराः। आत्महानिर्मुक्तिरिति बौद्धाः । इत्यादिमतानि निराकुर्वन्नेव आत्मज्ञानाज्जीवन्मुक्तिदशामाह—

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि ।
अधुनैव सुखी शांतो बंधमुक्तो भविष्यसि॥३॥

१९] यदि देहं पृथक् कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि अधुना एव सुखी शांतः बंधमुक्तः भविष्यसि ॥

२०) हे शिष्य । यदि त्वं देहं पृथक्कृत्य देहादिभ्यो विलक्षणं विविच्य । चिति विश्राम्य चिदेकाग्रो भूत्वा तिष्ठसि । तर्हि त्वं अधुनैव इदानीं जीवनदशायामेव । सुखी प्राप्तपरमानंदः । अत एव शांतः सुप्रसन्नमनाः । बंधमुक्तः कर्तृत्व-भोक्तृत्वप्रमुखानर्थरहितो भविष्यसि इत्यर्थः २

०००००००००००००००००००००००००००००००००

२१ ननु वर्णाश्रमप्रयुक्तानि कर्माणि विहाय । चिति विश्राम्यावस्थानं कथं मुक्तिरित्याशंक्यात्मा वर्णाश्रमविलक्षण इत्याह—

[२२]न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी [२३]नाक्षगोचरः
[२४]असंगोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव४

२२] त्वं विप्रादिकः वर्णः न । आश्रमी न ॥

२३) त्वं वर्णाश्रमविलक्षण इत्यर्थः ॥

२४ नन्वहं ब्राह्मण इत्यादि चाक्षुषप्रत्यक्षबलाद्देहस्यैव वर्णाश्रमीत्याशंक्याह—

२५] अक्षगोचरः न ॥

२६) साक्षित्वात् अयं ब्राह्मण इत्यादि प्रत्ययास्तु देहगोचरा एव । न त्वात्मगोचरास्तस्येंद्रियकज्ञानागोचरत्वादित्यर्थः ॥

२७ तर्हि कीदृशोऽहमित्याशंक्यात्मानं निरूपयन्नेव तद्विश्रांतिफलमनुवदति—

२८] असंगः निराकारः विश्वसाक्षी असि सुखी भव॥

२९) असंगः सर्वोपाधिसंगरहितः । निराकारो विश्वसाक्षी त्वं असि । अतश्चासंगादिरूपस्य तव वर्णाश्रमविलक्षणत्वात् । कर्मासक्तिं परिविहाय । चिति विश्राम्य । सुखी प्राप्तपरमानंदो भव इत्यर्थः ॥ ४ ॥

३० ननु वेदोदितं कर्म विहाय । चिति विश्रांतावपि प्रत्यवायप्रसंग इत्याशंक्याह—

[31] धर्माधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो ।
[34] न कर्तासि न भोक्तासि मुक्त एवासि सर्वदा ५

३१] विभो धर्माधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि । ते न॥

३२) धर्माधर्मादयो मनोधर्मा एव । कालत्रयेऽपि तैः सह तव संबंधो नास्तीत्यर्थः ॥

३३ कुत इत्यत आह—

३४] कर्त्ता न असि । भोक्ता असि न । सर्वदा मुक्त एव असि ॥

३५) किं च । विहितनिषिद्धकर्मकर्तुः धर्माधर्मादिद्वारा सुखदुःखभोक्तृत्वं । तदपि तव नास्ति शुद्धबुद्धस्वरूपत्वात्त्वं सर्वदा मुक्त एवासि । अज्ञानमात्रविजृंभिते सुखदुःखे ते तु चिति विश्रांत्यैवाज्ञाननिवृत्त्या न विजृंभिष्येतेत्यर्थः ॥ ५ ॥

३६ ननु शुद्धबुद्धस्वभावस्य नित्यमुक्त-स्यात्मनो बंधः किंनिबंधनो । यस्य निबंधस्य निवृत्त्यर्थं विवेकिनो यतंते इत्याशंक्य । नित्य-मुक्तस्यापि प्रातीतिकं बंधमनुवाद—

एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा ।
अयमेव हि ते बंधो द्रष्टारं पश्यसीतरम् ॥६॥

३७] सर्वस्य द्रष्टा असि।एकः सर्वदा मुक्तप्रायः असि॥

३८) हे शिष्य । सर्वस्य द्रष्टा प्रतिशरीरं एकः त्वं असि । ततश्च व्यापकत्वात् सर्वदा मुक्तप्रायोऽसि । देहाध्यासवशतो बंधे प्रतीय-मानेऽपि वस्तुगत्या मुक्तोऽसीत्यर्थः ॥

३९] अयं एव हि ते बंधः। इतरं द्रष्टारं पश्यसि ॥

४०) हि निश्चितं । अयमेव ते तव बंधो । यदि इतरं देहादिरूपं परिच्छिन्नं द्रष्टारं पश्यसि इत्यर्थः ॥ ६ ॥

४१ पूर्वं बंधहेतुरुक्त अथानर्थहेतुं वदन्नेव तन्निवृत्तिपरमानंदप्राप्त्युपायमनुवदति—

अहं कर्त्तेत्यहंमानो महाकृष्णाहिदंशितः ।
नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥७॥

४२] अहं कर्त्ता इति अहंमानः महाकृष्णाहिदंशितः । अहं कर्त्ता न इति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव ॥

४३) हे शिष्य । अहं कर्त्तेति एवंरूपो योऽहंमानः अहमित्यात्मनि कर्तृत्वाभिमानस्तद्रूपो महान् कृष्णसर्पः सुखदुःखविपयावहस्तेन दंशितः कवलीकृतोऽतःकारणात् । अहं न कर्त्ता अहं अकर्त्ता आत्मा । इत्येवंरूपं विश्वासामृतं निश्चयामृतं । पीत्वा अनुभूय । सुखी भव प्राप्तपरमानंदो भवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

४४ नन्वात्मज्ञानाद्बन्धनं छित्वा सुखसाधन-मित्यर्थस्याज्ञानवनदहनद्वारा ज्ञानाग्निः सुख-साधनमित्याह—

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना ।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥८॥

४५] एकः विशुद्धबोधः अहं इति निश्चयवह्निना प्रज्वाल्य अज्ञानगहनं । वीतशोकः सुखी भव ॥

४६) एकः सजातीयविजातीयस्वगतभेद-रहितः। विशुद्धबोधः स्वप्रकाशचिदात्मा अह-मिति निश्चयाग्निना। अज्ञानाख्यं गहनं वनं। प्रज्वाल्य प्रकर्षेण दग्ध्वा। शोकमोहरागद्वेषप्रभृति-जन्मापायात् वीतशोको विगतदुःखः सन् । सुखी भव इत्यर्थः ॥ ८ ॥

४७ नन्वात्मज्ञानेन अज्ञानकाननदाहे सत्यपि सत्यस्य प्रपंचस्य ज्ञानादनिवृत्तेः वीतशोकः कथं स्यादित्याशंक्य । प्रपंचस्य रज्जुभुजंगतुल्यत्वाज्ज्ञानाद्विनिवृत्तौ दुःखहेतोरभावाद्वीतशोकता स्यादेवेत्याह—

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत् ।
आनंदपरमानंदः स बोधस्त्वं सुखं चर ॥ ९ ॥

४८] यत्र इदं विश्वं रज्जुसर्पवत् कल्पितं भाति सः बोधः त्वं सुखं चर ॥

४९) यत्र बोधे । इदं विश्वं रज्जुसर्पवत् कल्पितं अधिष्ठानाज्ञानकल्पितं भाति । स बोधः चिदात्मा त्वं सुखं चर । यथा स्वप्नदशायामज्ञानकल्पितं व्याघ्रादिकं पश्यति । जाग्रद्बोधे निवर्त्य सुखं चरति । तद्वदित्यर्थः ॥

५० ननु दुःखहेतुप्रपंचनिवृत्तौ दुःखाभावमात्रं स्यात्सुखं तु कथं स्यादित्याशंक्य । स्वभावत एव

त्वं नित्यानंतानंदस्वरूप इत्याह—

५१] आनंदपरमानंदः ॥

५२) आनंदेभ्यो मनुष्यलोकदेवलोकानंदेभ्यः परम उत्कृष्टः आनंदस्त्वमित्यर्थः ॥ "एतस्यैवानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवंति" इति श्रुतेः ॥ ९ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

५३ ननु सर्वं रज्जुसर्पवत्कल्पितं स्वभावतस्त्वानंद एवात्मेति चेत्तर्हि बंधमोक्षावात्मनः किंनिबंधनावित्याशंक्याह—

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदंतीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत् १०

५४] मुक्ताभिमानी मुक्तः हि बद्धाभिमानी अपि ॥

५५) हि निश्चितं मुक्ताभिमानी मुक्तः। अपि च बद्धाभिमानी बद्धः ॥

५६ अत्र किंवदंतीं प्रमाणयति—

५७] या मतिः सा गतिर्भवेत् सा इह सत्या इयं किंवदन्ती ॥

५८) "या मतिः सा गतिर्भवेत्" इयं इह प्रसिद्धा। किंवदंती विद्वज्जनश्रुतिः। सत्या अबाधितार्था। "तं विद्याकर्मणी समारभेते पूर्वप्रज्ञा च" इति श्रुतिपरिगृहीतत्वात्। "यं यं वापि स्मरन् भावं" इत्यादि स्मृतिपरिगृहीतत्वाच्च। तथा चाभिमानिकावेव बंधमोक्षौ न तु वास्तवावित्यर्थः। पूर्वमुक्तोऽप्ययमर्थो दुर्बोधत्वात् पुनः पुनः शिष्यबोधार्थमुच्यत इत्यर्थः॥ १०॥

---

५९ ननु जीवात्मनः पारमार्थिकावेव बंधमोक्षौ इति तार्किकाशंकामपाकर्तुमाह—

आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः
असंगो निःस्पृहः शांतो भ्रमात्संसारवानिव ११

६०] आत्मा ॥

६१) आत्मा भ्रमात् देहादावात्मतादात्म्य-भ्रमात् संसारवानिव प्रतीयते। न तु वस्तुतः संसारी ॥

६२ अत्र दशहेतूनाह—

६३] भ्रमात् संसारवान् इव साक्षी विभुः पूर्णः एकः मुक्तः चित् अक्रियः असंगः निःस्पृहः शांतः ॥

६४) कर्तुरहंकारादेः साक्षी न तु कर्ता। विभुः विविधं भवत्यस्मादिति विभुः सर्वाधिष्ठानं। पूर्णः व्यापकः। एकः सजातीयविजातीयस्वगत-भेदरहितः। मुक्तः वस्तुगत्या मायातत्कार्यातीतः। चित् स्वप्रकाशचैतन्यरूपः। अक्रियः चेष्टा-रहितः। असंगः सर्वसंबंधशून्यः। "असंगो ह्ययं पुरुष" इति श्रुतेः। निःस्पृहः विषयाभिलाष-रहितः। शांतः प्रवृत्तिनिवृत्तिदेहाद्यंतःकरणधर्म-रहितः। तस्माद्वस्तुतो न संसारीत्यर्थः ॥ ११ ॥

६५ अहं परिच्छिन्नो । ममेदं देहादिकं । सुखी दुःखी चाहमिति भ्रमस्यानादिपरंपरागतस्य सकृद्भावनया निवर्त्तयितुमशक्यत्वात् "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इति व्याससूत्राच्च । पुनः पुनरद्वैतात्मभावनां विजातीयभावनानिवृत्तिपुरःसरामुपदिशति—

६६कूटस्थं वोधमद्वैतमात्मानं परिभावय ।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं वाह्यमथांतरम् ॥

६६] अहं आभासः भ्रमं वाह्यम् अथ आंतरम् भावं मुक्त्वा कूटस्थं वोधं अद्वैतं आत्मानं परिभावय ॥

६७) हे शिष्य । आभासोऽहं अहंकारोऽहमिति भ्रमं मुक्त्वा । वाह्यं भावं ममेदं देहादिकमिति वाह्यपदार्थविषयं भावं संभावनां मुक्त्वा । अथ च आंतरं भावं सुखी दुःखी मूढोऽहमिति आंतरपदार्थविषयं भावं भावनां मुक्त्वा । अकर्त्तारं कूटस्थं असंगवोधस्वरूपं अद्वैतमात्मानं परि—समंताद्व्यापकं भावय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

६८ अनादिरयं देहाभिमानः सकृज्ज्ञानतया न निवर्तेत इति पुनः पुनर्ज्ञानखड्गेन तं निःकृत्य सुखी भवेत्याह—

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक ।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निःकृत्य सुखी भव १३

६९] पुत्रक । देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धः असि । अहं बोधः ज्ञानखड्गेन तत् निःकृत्य सुखी भव ॥

७०) हे पुत्रक हे शिष्य । त्वं देहोऽहमिति अभिमानपाशेन चिरं बहुकालं बद्धोऽसि । अतो बोधोऽहं चिद्रूपोऽहमिति ज्ञानखड्गेन । पुनः पुनः तं पाशं । निःकृत्य नितरां छित्त्वा । सुखी भव ॥ १३ ॥

७१ चित्तवृत्तिनिरोधरूपः समाधिरेव केवलो वंधनिवृत्तिहेतुरिति पातंजलमतमपाकर्तुमाह—

७२ निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरंजनः
अयमेव हि ते वंधः समाधिमनुतिष्ठसि ॥ १४ ॥

७२] त्वं निःसंगः निष्क्रियः असि ॥

७३) हे शिष्य । त्वं वस्तुतो निःसंगः सर्वसंवंधशून्योऽसि । तथा क्रियारहितोऽसि ॥

७४ अत्र हेतुमाह—

७५] स्वप्रकाशः निरंजनः समाधिं अनुतिष्ठसि अयं एव ते वंधः हि ॥

७६) निष्क्रियस्य समाध्यनुष्ठानं यत् अयमेव हि निश्चितं वंधः । तथा च ज्ञानातिरिक्तोपायानुष्ठानमात्रं प्रत्युतवंध एवेत्यर्थः ॥ १४ ॥

---

७७ तदेवमात्मज्ञानातिरिक्तः समाधिरपि पूर्वं निराकृतः। अथ परिपूर्णे शुद्धबुद्धात्मनि विपरीत-

धियमुत्सारयन्नेव चिन्निष्ठामुपसंहरति श्लोकद्वयेन—

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः ।
शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मा गमः क्षुद्रचित्तताम् ॥ १५

७८] इदं विश्वं त्वया व्याप्तं त्वयि प्रोतं त्वं यथार्थतः शुद्धबुद्धस्वरूपः । क्षुद्रचित्तताम् मा गमः ॥

७९) हे शिष्य । इदं विश्वं त्वया व्याप्तं कनकेनेव कटककुंडलादिकं यथा तथा ॥ इदं विश्वं त्वयि प्रोतं मृदिव घटशरावादिकं ॥ हे शिष्य । त्वं यथार्थतः परमार्थतः । शुद्धः अविद्यातत्कार्यप्रपंचातीतः । बुद्धः स्वप्रकाशः चिद्रूपोऽसि । एवं च । "सर्वगंधः सर्वरसः । नेति नेति" इति श्रुतिद्वयानुसारेणोक्ताभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां निःप्रपंचमात्मतत्त्वमुपदिष्टं भवति ॥ हे शिष्य । परिपूर्णः शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं क्षुद्रचित्ततां विपरीतचित्तवृत्तिं । मा गमः मा कार्षीरित्यर्थः ॥ १५ ॥

८० प्रतीयमानाः षडूर्मयः षड्भावविकाराश्च न त्वद्गतास्त्वं तद्विलक्षण इत्याह—

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः ।
अगाधबुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः ॥ १६

८१] निरपेक्षः निर्विकारः ॥

८२) हे शिष्य। त्वं **निरपेक्षः** अशनापिपासादि-षडूर्मिसंसर्गातीतः । तथा **निर्विकारः** " जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति " इत्येवंविधाः यास्कादिप्रोक्ताः षड्भावविकारास्त-त्संसर्गरहितस्त्वमित्यर्थः ॥

८३ तर्हि कीदृशोऽहमित्यत आह—

८४] निर्भरः शीतलाशयः अगाधबुद्धिः अक्षुब्धः चिन्मात्रवासनः भव ॥

८५) **निर्भरः** चिद्घनरूपः । **शीतलः** सुख-स्वरूपः आमुक्तिसमयमभिव्याप्य शेते तिष्ठतीति **आशयः** । **अगाधः** अगाधा अतलस्पर्शा

अपरिच्छिन्ना बुद्धिः स्वरूपचैतन्यं तद्रूपः।अक्षुब्धः अविद्याकृतक्षोभरहितस्त्वं वस्तुतोऽसि । अतस्त्वं क्रियामात्ररहितश्चिन्मात्रनिष्ठो भव इत्यर्थः ॥ १६ ॥

---

८६ " विषयान् विषवत्त्यज । सत्यं पीयूषवद्भज " इति मोक्षोपायः प्रथमश्लोके समुपदिष्टः । परंतु विषयाणां विषतुल्यत्वे सत्यात्मनः पीयूषतुल्यत्व च हेतुर्नोक्तस्तत्र हेतुं वदन्नेव षोडशश्लोकोपदेशो मोक्षहेतुश्चिदात्मा च स्वाध्यस्तं विश्वं समंततो व्याप्यावस्थितो मुकुर इव स्वाध्यस्तं शरीरादि इति तद्भावापत्तिरेव परमपुरुषार्थ इत्युपपत्तिमुखेन प्रकरणार्थं संगृह्णाति श्लोकत्रयेण ॥ "अथ संग्रहश्लोकाः" साकार इत्यादिना—

साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसंभवः ॥ १७ ॥

८७] साकारं अनृतं विद्धि । निराकारं तु निश्चलं एतत् तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसंभवः ॥

८८) अथ । हे शिष्य । साकारं शरीरादिकं । अनृतं मिथ्याभूतं विद्धि । अतस्तत् विपवत्त्यजेत्यर्थः ॥ निराकारं आत्मतत्त्वं । निश्चलं कालत्रयावस्थायि विद्धि । सर्वसाक्षित्वात् " नित्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म" इति श्रुतेश्च । अत एतत्तत्वस्य चिन्मात्रस्य उपदेशेन उपदिश्यमानेन तत्रैव विश्राम्यावस्थानेन । न पुनर्भवस्य मोक्षस्य संभवः सिद्धिरित्यर्थः ॥ १७ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

८९ अथ वर्णाश्रमधर्मकस्थूलशरीरात्पुण्यापुण्यधर्मकलिंगशरीराद्विलक्षणं परिपूर्णं चैतन्यं सदृष्टांतं निरूपयति—

९०
यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽतः परितस्तु सः ।
तथैवास्मिन् शरीरेंतः परितः परमेश्वरः॥१८॥

९०] यथा एव आदर्शमध्यस्थे रूपे अंतः परितः सः तु । तथा एव अस्मिन् शरीरे अंतः परितः परमेश्वरः ॥

९१) यथैवादर्शे प्रतिबिंबिते शरीरादौ अंतः मध्ये । परितः बहिश्च । स आदर्शो व्याप्य वर्तते । तथैव स्वाध्यस्ते अस्मिन् स्थूले शरीरे अंतःपरितः च । परमेश्वरः चिदात्मा व्याप्य स्थितः । तथा च " यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्" इत्यादि सर्वोऽपि प्रकरणार्थः संक्षेपतः सूचितः ॥ १८ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००

९२ आदर्शदृष्टांते परिच्छिन्नत्वादिभ्रमापत्तिः । स्वाध्यस्ते शरीरांतर्वर्तित्वं च न स्पष्टमतो घटाकाश-दृष्टांतेन बाह्याभ्यंतरव्यापकत्वमाह—

९३एकं सर्वगतं व्योम बहिरंतर्यथा घटे ।
नित्यं निरंतरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा ॥१९॥

९३] यथा सर्वगतं एकं व्योम घटे बहिः अंतः तथा नित्यं ब्रह्म सर्वभूतगणे निरंतरं ॥

९४) यथा सर्वगतं एकं नित्यं व्योम घट-पटादौ वहिरंतः च वर्त्तते । तथा नित्यं अविनाशि ब्रह्म सर्वभूतगणे वहिरंतरं सर्वदा वर्त्तते इत्यर्थः । " एप त आत्मा सर्वस्यांतर " इति श्रुतेः । अतश्च वोधोऽहमिति ज्ञानखङ्गेन देहादहंभावपाशं निःकृत्य सुखी भवेत्यर्थः॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीताया-मात्मानुभवोपदेशनामकं प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १ ॥

॥ अथ शिष्योक्तमात्मानुभवोल्लास-नामकं द्वितीयं प्रकरणं ॥ २ ॥

इत्थं गुरूक्तिपीयूपस्वादानुभवमात्मनः ।
आविश्चकार साश्चर्यं शिष्यो निजगुरुं प्रति॥ १ ॥

९५ तत्र तावच्छिष्यश्चिद्रूपात्मानुभवमाविष्कुर्व-न्नेव गुरुकृतोपकारख्यापनाय प्राचीनसंस्कारवशा-

द्वाधितानुवृत्त्या प्रतीतस्य मोहविडंबनस्य स्मरण-
माविष्करोति—

अहो[९६] निरंजनः शांतो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावंतमहं[९९] कालं मोहेनैव विडंबितः ॥ १ ॥

९६] अहो निरंजनः अहं शांतः बोधः प्रकृतेः परः॥

९७) अदृष्टस्याद्भुतस्यानुभवात् अहो इत्या-
श्चर्ये । अहं निरंजनः सर्वोपाधिविनिर्मुक्तः ।
शांतः सर्वविकारातीतः। प्रकृतेः परः मायांधकार-
स्पर्शशून्यो । बोधः स्वप्रकाशचिद्रूप इत्यर्थः ॥

९८ गुरूपकारख्यापनाय मोहविडंबनमनु-
स्मरति—

९९] एतावंतं कालं अहं मोहेन एव विडंबितः ॥

१००) एतावंतं गुरूपदेशावधिकालं ।
मोहेन देहात्माविवेकेन । विडंबितः एव ।
सांप्रतं तु श्रीगुरुप्रसादादात्मानंदानुभवोऽस्मीति
विवक्षितोऽर्थः ॥ १ ॥

१०१ पूर्वकालीनं मोहविडंबनमुक्तं। संप्रतिगुरुप्रसादान्मम देहात्मविवेकोऽस्तीति सोपपत्तिकमाह—

[१] यथा [२] प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत् ।
[१] अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किंचन ॥२॥

१०२] एकः यथा जगत् प्रकाशयामि तथा एनं देहम्

१०३) अहं यथा एक एव जगत् प्रकाशयामि। तथा एव एनं स्थूलं देहं प्रकाशयामि । तथा च । देहोऽनात्माऽप्रकाशत्वाद्यथा जगत्तद्वदित्यर्थः ॥

१०४ कस्तर्हि जगदादिदेहात्मनोः संबंध इत्याशंक्य। युक्तिविचारादाध्यासिकः संबंधः । परमार्थगत्या च न कश्चित्संबंध इत्याह—

१०५] अतः सर्वं जगत् मम अथवा किंचन न च॥

१०७) अतो दृश्यत्वात् सर्वं देहप्रमुखं जगत् मम मदीयं मय्यध्यस्तमित्यर्थः । चावधारणे ॥ अथवा परमार्थविचारे । किंचन किमपि

देहादिकं । मम न च नैव मय्यध्यस्तमित्यर्थः । तदेवमध्यारोपापवादाभ्यां प्रकृतेः परो बोधोऽहमित्येवात्र स्फुटीकृतम् ॥ २ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००

१०८ ननु लिंगदेहात् कारणदेहाच्च विवेकाभावे कथं प्रकृत्यतिरिक्तात्मबोध इत्याशंक्य । ततोऽपि विवेकजमात्मानुभवमाह—

सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाऽधुना ।
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते॥३॥

१०८] अहो अधुना सशरीरं विश्वं परित्यज्य कुतःचित् कौशलात् एव परमात्मा मया विलोक्यते ॥

११०) अहो इत्याश्चर्ये । अधुना । सशरीरं लिंगशरीरकारणशरीरसहितं । विश्वं । परित्यज्य विचारतः पृथक्सत्तया निषिध्य । कुतश्चित् शास्त्राचार्योपदेशप्रलब्धात् । कौशलात् चातुर्यात् एव परमश्रेष्ठ आत्मा मया विलोक्यते । नान्यः परमात्मावलोकनोपाय इत्यर्थः३

११० सशरीरविश्वस्य पृथक्सत्तया परित्यज्य । तं सदृष्टांतं निरूपयति–

यथा न तोयतो भिन्नास्तरंगाः फेनबुद्बुदाः ।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ४

१११] यथा तरंगाः फेनबुद्बुदाः तोयतः भिन्नाः न तथा आत्मनः विश्वं आत्मविनिर्गतं भिन्नं न ॥

११२) यथा तरंगाः फेनबुद्बुदाः च । न तोयतो भिन्नाः तदुपादानत्वात् । तथा आत्मविनिर्गतं आत्मनः संजातं आत्मोपादानकं। विश्वं आत्मनो न भिन्नं । एवं च । तोयतरंगादिषु जलं यथा स्वच्छमनुगतं । तथा स्वच्छचिद्रूपोऽहं विश्वस्मिन्नधिष्ठानभूतो । न मत्तोऽन्यद्विश्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥

११३ दृष्टांतांतरेणात्मरूपतया सर्वावलोकनं निरूपयति—

तंतुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारितः ।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम् ॥ ५ ॥

११४] यद्वत् पटः विचारितः तंतुमात्रः एव भवेत् तद्वत् इदं विश्वं विचारितं आत्मतन्मात्रं एव ॥

११५) स्थूलदृष्ट्या तंतुवैलक्षण्येन प्रतीयमानोऽपि पटो विचारितः विचारवीक्षितः सन् । यद्वत् यथा । तंतुमात्रो । भवेत् अस्ति । तद्वत् तथा । इदं विश्वं । स्थूलदृष्ट्या ब्रह्मवैलक्षण्येनापि प्रतीयमानं । युक्त्या विचारितं सत् । आत्मतन्मात्रमेव आत्मसत्तामात्रात्मकमेव । एतेन तंतुः स्वसत्तया यथा पटेऽनुगतस्तथात्मापि स्वसत्तयाधिष्ठानभूतो विश्वस्मिन्ननुगत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

११६ आत्मनैव सर्वं व्याप्तमित्यत्र दृष्टांतांतरमाह—

११७
यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा ।
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरंतरम् ॥६॥

११७] यथा एव इक्षुरसे क्लृप्ता शर्करा तेन व्याप्ता एव तथा मयि क्लृप्तं विश्वं मया निरंतरं व्याप्तं ॥

११८) यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता अध्यस्ता शर्करा । तेन मधुररसेन । व्याप्तैव सर्वापि व्याप्ता ॥ तथा एव । मयि नित्यानंदस्वरूपे । क्लृप्तं अध्यस्तं । इदं विश्वं । मया नित्यानंदेन । निरंतरं बाह्याभ्यंतरं । व्याप्तं ॥ तस्मात् विश्वमानंदात्मस्वरूपमेवेत्यर्थः ॥ तदेवमस्तिभातिप्रियमित्येवंरूपेणाहमेव सर्वत्रावस्थित इति श्लोकत्रयविवक्षितोऽर्थः॥६॥

११९ विश्वं चिदात्मनो न भिन्नं । तर्हि केन कारणेनेदं भासते । केन च कारणेन न भासत इत्याशंक्याह–

आत्माज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते न हि ७

१२०] आत्माज्ञानात् जगत् भाति । आत्मज्ञानात् न भासते ॥

१२१) आत्मनः अज्ञानाज्जगद्भाति । तथा आत्मन अधिष्ठानस्य ज्ञानान्न भासते ॥

१२२ अधिष्ठानाज्ञानादन्यस्य भानेऽधिष्ठानज्ञानाच्च न भाने लोकप्रसिद्धदृष्टांतमाह–

१२३] रज्ज्वज्ञानात् अहिः भाति । तज्ज्ञानात् हि भासते न ॥

१२४) हि यथा । रज्जु स्वरूपस्य अज्ञानादहिः सर्पो भाति । तज्ज्ञानाद्रज्जुज्ञानान्न भासते ॥ ७ ॥

१२५ नन्वात्माज्ञाने सति आत्मप्रकाशाभावा-ज्जगत्कथं भासत इत्याशंक्य । स्वरूपचैतन्यबला-देवेत्याह—

[१२६] प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः
यदा प्रकाशते विश्वं तदाहंभास एव हि ॥८॥

१२६] प्रकाशः मे निजं रूपं अहं न अतिरिक्तः अस्मि । कुतः । यदा विश्वं प्रकाशते । तदा अहं भासः एव हि ॥

१२७) प्रकाशो नित्यबोधः । मे मम । निजं स्वाभाविकं । स्वरूपं । अहं । ततः प्रकाशात् । अतिरिक्तः भिन्नो नास्मि ॥ अतो मम । यदा विश्वं प्रकाशते । तदा अहंभासा-दात्मप्रकाशात् एव भासते ॥ स्वरूपचैतन्यं चिद्भासकं । किं तु साधकमेव । अन्यथा । जडस्य सिद्धिरेव न स्यात् । किं च । आत्मस्वरूपप्रकाशा-भावे स्वात्मनोऽप्यसत्वप्रसक्तिर्जगदांध्यप्रसंगश्च ।

तस्मात् यदा विश्वं प्रकाशते तदात्मस्वरूप-प्रकाशादेवेति भावः ॥ ८ ॥

००००००००००००००००००००००००००००००

१२८ स्वप्रकाशेऽपि मय्यात्मन्यज्ञानवशाद्विश्वं भासत इति महदाश्चर्यं सदृष्टांतमाह—

१२९
अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते ।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा ९

१२९] अहो ! मयि अज्ञानात् विकल्पितं विश्वं भासते । यथा शुक्तौ रूप्यं रज्जौ फणी सूर्यकरे वारि ॥

१३०) स्वप्रकाशेऽपि मयि । अज्ञानाद्वि-कल्पितं रचितं अध्यस्तं विश्वं मयि भासते । अहो आश्चर्यमिदं ॥ यथा शुक्त्यादौ रूप्यादिकं भासते । तद्वदित्यर्थः ॥ ९ ॥

१३१ ननु मायाविकारत्वात्तत्रैव विश्वमुत्पद्यते। तत्रैव लयमेति । न तु चैतन्यात्मनीति सांख्यमत-मपाकर्तुमाह—

१३२ मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति ।
मृदि कुंभो जले वीचिः कनके कटकं यथा१०

१३२] विश्वं मत्तः विनिर्गतं मयि एव लयं एष्यति यथा मृदि कुंभः जले वीचिः कनके कटकं ॥

१३३) इदं विश्वं मत्त एव विनिर्गतं। मय्येव लयमेष्यति प्राप्स्यति। यथा मृदादौ कुंभादिकं। तद्वदित्यर्थः ॥ न चात्र प्रमाणाभाव इति शंकनीयं " यतो वा इमानि भूतानि जायंते येन जातानि जीवंति यत्प्रयंत्यभिसंविशन्ति" इति श्रुतेः ॥ १० ॥

१३४ ननु ब्रह्मचेज्जगदुपादानकारणं तर्हि तस्य विकारित्वान्मृदादिवद्विनाशित्वापत्तिरित्याशंक्याह—

१३५

अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे ।
ब्रह्मादिस्तंबपर्यंतं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः॥११॥

१३५] अहं अहो ! ब्रह्मादिस्तंबपर्यंतं जगत् नाशे अपि तिष्ठतः यस्य मे विनाशः न अस्ति मह्यं नमः ॥

१३६) अहो आश्चर्यरूपोऽहं । यस्य मम सर्वोपादानभूतस्यापि विनाशो नास्ति । न चोपादानत्वे सुवर्णादिवद्विनाशित्वापत्तिः । सुवर्णादिवद्विकारित्वानंगीकाराद्विवर्ताधिष्ठानत्वेनैवोपादानत्वस्वीकारात् । अत एवाशेषकार्योपादानत्वादविनाशिने सर्वोत्कृष्टाय मह्यं नमः । ब्रह्मादिदेवतावत् प्रलये विनाशशंकां निराकरोति ॥ ब्रह्मादिस्तंबपर्यंतं यत् जगत् । तस्य नाशेऽपि तिष्ठतः-प्रलयेऽपि स्थितिमतो यस्य मे विनाशो नास्तीत्यर्थः ॥ "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इति श्रुतेः॥११॥

१३७ नन्वात्मा सुखदुःखावच्छेदकदेहवा-न्नाना । तथाहंकाररूपत्वात्तत्तद्देशगमनागमनवानि-त्याशंक्याह–

[138] अहो अहं नमो मह्यमेको[141]ऽहं देहवानपि ।
[143] कचिन्न गंता नागंता व्याप्य विश्वमवस्थितः १२

१३८] अहो अहं मह्यं नमः ॥

१३९) अहो आश्चर्यरूपः अहं । आश्चर्य-रूपाय मह्यं नमः इत्यर्थः ॥

१४० आश्चर्यरूपत्वमेवाह–

१४१] देहवान् अपि एकः अहम् ॥

१४२) नानासुखदुःखावच्छेदकदेहवानप्य-हमेक एव । यथा नानासकंपनिःकंपत्वावच्छेदक-जलोपाधिमानपि भानुरेक एवेत्यर्थः ॥

१४३] कचित् न गंता न आगंता विश्वं व्याप्य अवस्थितः ॥

१४४) विश्वं व्याप्यावस्थितः परिच्छि-न्नाहंकारविलक्षणोऽहं । क्वचित् अपि न गंता । कुतोऽपि नागंता एवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००

१४५ नन्वात्मनः निःसंगत्वं कथं । शरीर-संसर्गितया जगद्विधारकत्वादित्याशंक्याह–

१४६
अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः ।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम् १३

१४६] अहो अहं मह्यं नमः । इह मत्समः दक्षः न अस्ति येन शरीरेण असंस्पृश्य चिरं विश्वं धृतम् ॥

१४७) प्रथमपादार्थः पूर्ववदिति कारणात् मत्समो दक्षो असंभाव्यकार्यविधानचतुरः । कोऽपि नास्ति येन हेतुना । शरीरेणासंस्पृश्य घृतपिंडेनोल्मुकवदसंवध्यैव । चिरं वहुकालं । विश्वं स्थावरजंगमं । मया । धृतम् ॥ १३ ॥

१४८ नन्वसंबद्धस्य न जगद्विधारकत्वं । संबद्धस्यैव भित्त्यादेर्गृहादिधारकत्वादित्याशंक्याह—

[१४९]अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किंचन ।
अथवा यस्य मे सर्वं यद्वाङ्मनसगोचरम् ॥१४॥

१४९] अहं अहो मह्यं नमः यस्य मे किंचन न अस्ति अथवा यस्य मे यत् वाङ्मनसगोचरं सर्वम् ॥

१५०) अहो आश्चर्यरूपः। अहं। तस्मै मे नमः॥ यस्य मे संबंधि । परमार्थगत्या किंचन किमपि । नास्ति ॥ परमार्थसतो द्वितीयस्यैवाभावात् ॥ अथवा यत् यावत् वाङ्मनसगोचरं तावत् सर्वं । यस्य मे मम संबंधि मिथ्यातादात्म्यसंबन्धः । सुवर्णकुंडलादिवदित्यर्थः ॥ अत एव सर्वसंबंधित्वासंबंधित्वाभ्यामाश्चर्यरूपाय मह्यं नम इत्यर्थः॥१४॥

१५१ ननु त्रिपुटीरूपसंसारस्य पारमार्थिक-त्वात्कथं मिथ्यातादात्म्यसंबंधो जगदात्मनोरित्या-शंक्याह—

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।
अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरंजनः१५

१५२] ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं वास्तवं न अस्ति यत्र इदं अज्ञानात् भाति सः निरंजनः अहं अस्मि ॥

(१५३) ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता इत्यादिकं त्रितयं त्रिपुटीरूपं सर्व । वास्तवं परमार्थिकं । नास्ति ॥ यत्र मयि । इदं त्रितयं । अज्ञानात् अनिर्वचनीयाज्ञानान्मिथ्यातादात्म्येनाध्यस्तं भाति। अत एव वस्तुगत्याऽहं निरंजनः प्रपंचमलसंबंध-शून्योऽस्मि इत्यर्थः ॥ १५ ॥

१५४ ननु निरंजनस्य कथं दुःखसंबंध इत्याशंक्य । द्वैतभ्रांतिमूलक एवासौ।न तु वास्तव इत्याह—

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम् ।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वं एकोहं चिद्रसोऽमलः॥१६॥

१५५] अहो द्वैतमूलं दुःखम् ॥

१५६) अहो आश्चर्यं । निरंजनस्याप्यात्मनः द्वैतमूलं दुःखं द्वैतभ्रमाद् दुःखाध्यासो । न तु वास्तवं दुःखमित्यर्थः ॥

१५७ दुःखाध्यासमहाव्याधेः किं भेषजमित्याशंक्याह—

१५८] अमलः चिद्रसः एकः अहं एतत् दृश्यं सर्वं मृषा न अन्यत् तस्य भेषजं अस्ति ॥

१५९) अमलो मायातत्कार्यातीतः चिद्रसः चिन्मात्रस्वरूप एकोऽहं । एतत् प्रतीयमानं । सर्वं दृश्यं जडजातं । मृषा मिथ्या । परमार्थिकमिति बोधात् अन्यत्तस्य त्रिविधदुःखव्याधेः भेषजं नास्ति इत्यर्थः ॥ १६ ॥

१६० नन्वयं द्वैतप्रपंचाध्यासः । किं निमित्तः किमुपादानक इत्याशंक्याह—

बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया ।
एवं विमृशतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम १७

१६१] बोधमात्रः अहं मया अज्ञानात् उपाधिः कल्पितः ॥

१६२) बोधमात्रः चिदेकस्वरूपः । अहं एव पारमार्थिकः । मया सर्वोपादानभूतेन कर्त्रा अज्ञानात् अखंडाज्ञानरूपनिमित्तादहंकारप्रमुख उपाधिः द्वैतप्रपंचः । कल्पितः ॥

१६३ एवं विचारस्य फलमाह—

१६४] एवं नित्यं निर्विकल्पे मम विमृशतः स्थितिः॥

१६५) एवं नित्यं विमृशतो विचारयतो मम । निर्विकल्पे निरस्तद्वैते स्वरूपचैतन्ये । स्थितिः प्रजाता ॥ १७ ॥

१६६ ननु स्वरूपचैतन्यप्राप्तिरूपा मुक्तिः प्रागुक्तविचारजन्या चेत्तदामुक्तेर्विनाशापत्तिः जन्य-भावस्य विनाशित्वनियमात् । विचाराजन्या चेत्तदा विचाररहितानामपि मोक्षापत्तिरित्याशंक्याह—

१६७ १७०
न मे वंधोऽस्ति मोक्षो वा भ्रांतिः शांता निराश्रया
अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम् १८

१६७] मे वंधः वा मोक्षः न अस्ति ॥

१६८) वस्तुतो मे मम वंधो नास्ति । वा न च मोक्षोऽप्यस्ति । नित्यचिद्रूपत्वात् ॥

१६९ तर्हि शास्त्रविचारस्य किं फलमित्या-शंक्य । भ्रांतिनिवृत्तिरेव तत्फलमित्याह—

१७०] अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतः मयि स्थितं न निराश्रया भ्रांतिः शांता ॥

१७१) अहो आश्चर्यं । मयि स्थितं अपि विश्वं । वस्तुतः । कालत्रयेऽपि । मयि न स्थितं इति विचारतोऽपि भ्रांतिः एव शांता ।

न तु परमानंदावासिर्जनिता । आत्मनः सर्वदा परमानंदरूपत्वात् ॥ कीदृशी भ्रांतिः । निराश्रया उक्तविचाराज्ज्ञानस्य नष्टत्वान्निर्मूलेत्यर्थः ॥ १८ ॥

oooooooooooooooooooooooooooooooooooo

१७२ नन्वधिष्ठानस्योपादानस्य सत्वान्मुक्तेष्वपि प्रपंचोदयः स्यादित्याशंक्याह--

१७३ सशरीरमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चितम् ।
शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन्कल्पनाधुना

१७३] सशरीरं इदं विश्वं किंचित् न इति निश्चितम् । आत्मा शुद्धचिन्मात्रः च तत् अधुना कस्मिन् कल्पना ॥

१७४) सशरीरं शरीरसहितं । इदं विश्वं । न किंचित् सत्यं नाप्यसत्यम् इति निश्चितं । " नेह नानास्ति किंचन " इति श्रुतेः ॥ आत्मा च चिन्मात्रः शुद्धः मायामलशून्यः । तत् तस्मात्कारणात् । अधुना अज्ञाननिवृत्तौ सत्यां । कस्मिन् अधिष्ठाने । विश्वकल्पना स्यान्न कस्मिन्नपीत्यर्थः ॥ १९ ॥

१७५ ननु सर्वस्य प्रपंचस्यावास्तवत्वे । वर्णजात्याश्रयं शरीरमप्यवास्तवमेवेति शरीरविशेषमधिकृत्य प्रवर्त्तमानं विधिनिषेधशास्त्रमप्यवास्तवं स्यात् । तथा च । तद्बोधितस्वर्गनरकयोरप्यवास्तवत्वात्। स्वर्गादावनुरागो। नरकादिभ्यश्चभयं। न स्यात् ॥ किं च शास्त्रबोध्यौ बंधमोक्षावपि वास्तवौ न स्यातामित्याशंक्येष्टापत्त्या परिहरति—

१७६
शरीरं स्वर्गनरकौ बंधमोक्षौ भयं तथा ।
कल्पनामात्रमेवैतत्किं मे कार्यं चिदात्मनः २०

१७६] शरीरं स्वर्गनरकौ बंधमोक्षौ तथा भयं एतत् कल्पनामात्रं एव । चिदात्मनः मे किं कार्यं ॥

१७७) शरीरादिकमेवैतत् कल्पनामात्रमेव। चिदात्मनः सच्चिदानंदस्वरूपस्य मम एतैः शरीरादिभिः किं कार्यं । न किमपि कार्यं साध्यं । विधिनिषेधादिकं त्वविद्यावंतमेवाधिकृत्य प्रमाणमित्यर्थः ॥ २० ॥

१७८ स्वर्गादिभिः किं मे कार्यमिति प्रागुक्तं । अथेह लोकेनापि मे कार्यं नास्तीत्याह—

१७९
अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम ।
अरण्यमिव संवृत्तं क रतिं करवाण्यहम्॥२१॥

१७९] पश्यतः मम द्वैतं न अहो जनसमूहे अपि अरण्यं इव संवृत्तं क रतिं करवाणि अहम् ॥

१८०) न द्वैतं पश्यतो मम । अहो इत्याश्चर्ये । जनसमूहेऽपि । अरण्यमिव । संवृत्तं संजातं । तस्मात् । अहं मिथ्यात्वे क रतिं । प्रीतिं करवाणि न कापीत्यर्थः ॥ २१ ॥

००००००००००००००००००००००००००००००००००

१८१ ननु शरीरस्याहंममतास्पदतयानुरागविषयत्वादहंकारस्याप्यहंतास्पदतयानुरागविषयत्वात्तत्र स्पृहा स्यादित्याशंक्याह—

१८२ नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
अयमेव हि मे बंध आसीद्या जीविते स्पृहा॥२२

१८२] अहं देहः न । न मे देहः । अहं जीवः न ॥

१८३) अहं देहो न । जडत्वान्नापि मे देहः । मम निःसंगत्वात् । जीवः अहंकारो । नाहं । तस्य कर्तृत्वात् आत्मनश्चाकर्तृत्वात् ॥

१८४ कस्तर्हि त्वमित्याशंक्याह—

१८५] अहं हि चित् ॥

१८६) चित्स्वरूप एव अहं इत्यर्थः ॥

१८७ कुतस्तर्हि विवेकिनामपि जीविते स्पृहेत्याशंक्याह—

१८८] जीविते स्पृहा अयं एव मे बंधः या आसीत् हि ॥

१८९) या जीविते स्पृहा । अयमेव हि मे बंधः प्राक् आसीत् ॥ जीवनार्थं हि पुमान् सुवर्णहरणादिकमपि करोतीति जीवितेच्छा बंधः । बंधहेतुत्वात् ॥ इदानीं तु सच्चिदानंदानुभवशालिनो- ममासंगस्य प्राणानुषंगबंधनरूपे जीवितेऽपि स्पृहा नास्ति इत्यर्थः ॥ २२ ॥

१९० अथ स्वस्य सर्वाधिष्ठानत्वं प्रदर्शयति—

अहो भुवनकल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक् समुत्थितम् ।
मय्यनंतमहांभोधौ चित्तवाते समुद्यते ॥ २३ ॥

१९१] अहो अनंतमहांभोधौ मयि चित्तवाते भुवन-कल्लोलैः विचित्रैः द्राक् समुत्थितं समुद्यते ॥

१९२) अहो आश्चर्यं । अनंतमहांभोधौ मयि । चित्तवाते समुद्यते समुत्पन्ने सति । विचित्रैः नानाविधैः । भुवनकल्लोलैः भुवन-रूपैस्तरंगैः । द्राक् अत्यर्थं । समुत्थितं उदयो लब्धः । यथा वारिधेस्तरंगास्तथा मत्तो भुवनानि । वस्तुतो न भिन्नानीत्यर्थः ॥ २३ ॥

००००००००००००००००००००००००००००००

१९३ प्रारब्धक्षयदशामनुवदति—

मय्यनंतमहांभोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति ।
अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः२४

१९४] अनंतमहांभोधौ मयि चित्तवाते प्रशाम्यति जीववणिजः अभाग्यात् जगत्पोतः विनश्वरः ॥

१९५) अनंतमहांभोधौ सर्वव्यापकचित्-समुद्रे । मयि । चित्तवाते संकल्पविकल्पक-शालिनि मनोमारुते। प्रशाम्यति सति संकल्पादि-रहिते सति । जीववणिजो जीवात्मलक्षणस्य वाणिज्यकर्त्तुः । अभाग्यात् प्रारब्धक्षयात् । जगत्पोतः शरीरादिनौकासमूहः । विनाशवान् भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००००

१९६ अथ बाधितानुवृत्त्या स्वस्मिन् सर्व-जीवव्यवहारं पश्यन्नाह—

[१९७]मय्यनंतमहांभोधावाश्चर्यं जीववीचयः ।
उद्यंति घ्नंति खेलंति प्रविशंति स्वभावतः २५

१९७] आश्चर्यं । मयि अनंतमहांभोधौ जीववीचयः उद्यंति घ्नंति खेलंति स्वभावतः प्रविशंति ॥

१९८) आश्चर्यं । निःक्रिये निर्विकारे मयि अनंतमहांभोधौ । जीवा एव वीचयः तरंगाः। उद्यंति अभिव्यक्ता भवंतीव मिथः (परस्परं)। घ्नंति ताडयंतीव शत्रुभावाध्यासात् । अन्ये च ।

मिथः खेलंति इव भिन्नभावाध्यासात् । अविद्या-कामकर्मक्षये सति च मयि विशंतीव । कस्मात् स्वभावतः अविद्याकामकर्मस्वभाववशात् उत्पत्त्या-दिकं प्राप्नुवंति । स्वभावतः स्वस्य चिद्रूपस्यांश-रूपेण स्वभावतः तत्रैव प्रविशंति । घटाकाशा-द्य इव महाकाश इति विवेकः ॥ २५ ॥

द्वितीयेऽस्मिन् प्रकरणे शिष्येणानुभवस्थितिः ॥
निवेदिता गुरोस्तुष्ट्यै बह्वाश्चर्यपुरःसरा ॥ १ ॥

इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतायां शिष्येणोक्तमात्मानुभवोल्लासपंचविंशतिकं नाम द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २ ॥

॥ शिष्यं प्रत्याक्षेपद्वारोपदेशकं नाम तृतीयं प्रकरणं ॥ ३ ॥

शिष्यानुभवपीयूषे ज्ञातेऽपि करुणावशात् ।
तद्विज्ञानपरीक्षार्थं शिष्यमाह गुरुः पुनः ॥ १ ॥

१९९ विज्ञानानुभवमपि स्वशिष्यं व्यवहार-स्थितं दृष्ट्वा तद्विज्ञानपरीक्षार्थं तद्व्यवहारे स्थिति-माक्षिप्यात्मानुभवशालिनीं स्थितिमुपदिशति—

२००
अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः ।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः ॥ १ ॥

२००] अविनाशिनं एकं आत्मानं विज्ञाय तत्त्वतः आत्मज्ञस्य धीरस्य तव अर्थार्जने कथं रतिः ॥

२०१) हे शिष्य । अविनाशिनं निर्विकल्पं त्रैकालिकसत्ताशालिनं कालतो व्यवच्छेदशून्यं । आत्मानं देशतो व्यवच्छेदशून्यं । एकं वस्तुतो व्यवच्छेदशून्यं । चित्स्वरूपं । विज्ञाय निदि-ध्यास्य । तत्त्वतः आत्मज्ञस्य । अत एव धीरस्य । तव अर्थार्जने व्यावहारिकार्थसंग्रहे । कथं रतिः प्रीतिर्लक्ष्यते इत्याक्षेपः ॥ १ ॥

२०२ ननु ज्ञाने सति विषयसंग्रहः कथमनुपपन्न इत्याशंक्य । विषयप्रीतेरात्माज्ञानमूलत्वं सदृष्टांतं सोपपत्तिकमाह—

आत्माज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे ।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे ॥ २॥

२०३] अहो विषयभ्रमगोचरे प्रीतिः आत्माज्ञानात्॥

२०४) अहो इति संबोधने । हे शिष्य । **विषयभ्रमगोचरे** विषये या **प्रीतिः** । सा **आत्माज्ञानात्** एव भवति । न तु ज्ञानात्तद्व्यतिरिक्तविषयाणां बाधादिति भावः ॥

२०५ अत्र लोकप्रसिद्धं दृष्टांतमाह—

२०६] यथा रजतविभ्रमे शुक्तेः अज्ञानतः लोभः ॥

२०७) **यथा रजतविभ्रमे** सति **शुक्तेरज्ञानतो लोभः** पामराणामपि अनुभवसाक्षिक इत्यर्थः ॥ " विषयभ्रमगोचर " इत्यत्र विशेष्यस्यापि पूर्वं निपातः " विशेषणं विशेष्येण

वहुलं " इत्यत्र वहुलग्रहणादाम्रवृक्षवत् । "आत्माज्ञानात्" इति पदं विषयभ्रमगोचर इत्यनेनापि संवध्यते ॥ २ ॥

२०८ अज्ञानमूला विषयप्रीतिरिति प्रागुक्तं । अथ सर्वाध्यस्ताधिष्ठानतयात्मनि ज्ञाते सति । विषयेषु पुनः न प्रीतिः संभवते इत्याह—

२०९

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे ।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि ॥३॥

२०९] सागरे तरंगाः इव यत्र इदं विश्वं स्फुरति सः अहं अस्मि इति विज्ञाय दीनः इव किं धावसि ॥

२१०) सागरे तरंगा इव यथा पृथक् सत्तारहितास्तद्वत् यत्रेदं विश्वं पृथक्सत्तारहितं स्फुरति । सः तत्पदार्थो अहमस्मीति विज्ञाय साक्षात्कृत्य । दीन इव ममेदं भवत्विति तृष्णाकुल इव । किं धावसि कथं धावसीति आक्षेपः॥३

२११ तदेवं श्लोकत्रयेण ज्ञानिनि शिष्ये दृश्यमानं विषयव्यवहारमाक्षिप्येदानीं सर्वज्ञानिषु विषयव्यवहारं शिष्यपरीक्षार्थं गुरुराक्षिपति—

[212] श्रुत्वापि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुंदरम् ।
उपस्थेऽत्यंतसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति ॥४

२१२] शुद्धचैतन्यं अतिसुंदरं आत्मानं श्रुत्वा अपि उपस्थे अत्यंतसंसक्तः मालिन्यं अधिगच्छति ॥

२१३) शुद्धचैतन्यं श्रुत्वापि गुरुमुखाद्वेदांतवाक्यतः साक्षात्कृत्यापि । उपस्थे समीपस्थे विषये । अत्यंतसंसक्तः सन् आत्मज्ञः । कथं मालिन्यं मौढ्यं । अधिगच्छति प्राप्नोति ॥ अस्य प्रकरणस्य शिष्यजिज्ञासार्थमाक्षेपमुद्रयैव प्रवृत्तत्वाद्यत्राक्षेपवाचकं पदं न दृश्यते तत्र तदध्याहर्त्तव्यम् ॥ ४ ॥

२१४ पुनरप्याश्चर्यमुद्भयाक्षिपति—

२१५
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
मुनेर्जानत आश्चर्यं ममत्वमनुवर्त्तते ॥ ५ ॥

२१५] सर्वभूतेषु आत्मानं जानतः च सर्वभूतानि च आत्मनि मुनेः ममत्वं अनुवर्त्तते आश्चर्यम् ॥

२१६) सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरांतेषु । आत्मानं अधिष्ठानभूतं जानतः । सर्वभूतानि चात्मनि रज्जौ भुजंगवदध्यस्तानि जानतो मुनेः । विषयेषु ममत्वमनुवर्त्तते इति आश्चर्यं असंभाव्यं । न हि शुक्तिकायामध्यस्तं रजतं इति जानतस्तत्र ममत्वं संभवतीति भावः ॥ ५ ॥

[२१७]आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः ।
आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया ॥६॥

२१७] परमाद्वैतं आस्थितः मोक्षार्थे अपि व्यवस्थितः कामवशगः केलिशिक्षया विकलः आश्चर्यम् ॥

२१८) आस्थितः परमं सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं अद्वैतं आस्थितः साक्षादनुभवन् । तथा मोक्षस्वरूपोऽर्थः सच्चिदानंदात्मा । तत्र व्यवस्थितः तदेकप्रवणोऽपि । कामवशगः सन् । केलिशिक्षया नानाक्रीडाभ्यासेन । विकलः दृश्यते इति आश्चर्यम् ॥ ६ ॥

---

[२१९]उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्यातिदुर्बलः ।
आश्चर्यं काममाकांक्षेत्कालमंतमनुश्रितः ॥७॥

२१९] उद्भूतं कामं ज्ञानदुर्मित्रं अवधार्य अतिदुर्बलः आकांक्षेत् । आश्चर्यं अंतं कालं अनुश्रितः ॥

२२०) उद्भूतं कामं ज्ञानदुर्मित्रं ज्ञानस्यात्यंतवैरिणं अवधार्य निश्चित्यापि अतिदुर्बलः

अतिशयेन बलशून्य इव ज्ञानी । कामं विषयं । आकांक्षेत् कामं वांछति । इदं आश्चर्यं । कीदृशः अंतं कालमनु समीपे श्रितः । न हि समीप-वर्तिन्यंतकाले सति । विवेकिनो विषयतृष्णा युक्तेति भावः ॥ ७ ॥

इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः ।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका ॥८

२२१] इह अमुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः मोक्षकामस्य मोक्षात् एव विभीषिका आश्चर्यं ॥

२२२) ऐहिकामुष्मिकभोगविरक्तस्य नित्य-मात्मतत्त्वमनित्यं शरीरादिकं । तद्विवेकिनः । मोक्षः सच्चिदानंदस्तत्र कामोऽतःकरणं यस्य । एवंविधस्य ज्ञानिनोऽपि । मोक्षादेव असद्रूप-तनुधनवियोगादेव । विभीषिका भयं दृश्यते इति आश्चर्यं ॥ न हि स्वप्नदृष्टतनुधननाशेऽपि जाग्रतां भयं क्वापि दृष्टमिति भावः ॥ ८ ॥

२२३ एवमाक्षेपमुद्रया पूर्वमुक्तं। अथ ज्ञानिनस्तोषरोषावनुचिताविति कंठतो निरूपयति—

धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा
आत्मानं केवलं पश्यन्न तुष्यति न कुप्यति ॥९

२२४] धीरः तु भोज्यमानः अपि पीड्यमानः अपि सर्वदा आत्मानं केवलं पश्यन् न तुष्यति न कुप्यति ॥

२२५) धीरो ज्ञानी। लोकैर्विषयान् भोज्यमानोऽपि। तथा निंदादिना पीड्यमानोऽपि। सर्वदा। आत्मानं। केवलं सुखदुःखभोगादिरहितं। पश्यन्न तुष्यति न कुप्यति॥ तोषरोषहेतूनां केवलात्मनि असंभवज्ञानादिति भावः ॥९॥

२२६ किं च। तोषरोषहेतूनां स्तुतिनिंदादीनां शरीरधर्मत्वाच्छरीरस्य चात्मभिन्नत्वेनानुसंधानात्। कथं ज्ञानिनस्तोषरोषावित्याह—

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत्।
संस्तवे चापि निंदायां कथं क्षुभ्येन्महाशयः १०

२२७] स्वं शरीरं चेष्टमानं अन्यशरीरवत् पश्यति महाशयः संस्तवे अपि च निंदायां कथं क्षुभ्येत् ॥

२२८) स्वं शरीरं। स्वात्मभिन्नचेष्टाश्रयत्वाद् अन्यशरीरवत् इति यः पश्यति स महाशयः संस्तवे स्तुतावपि। च निंदायां। कथं क्षुभ्येत् कथं तोषरोषरूपां विक्रियां व्रजेदित्याक्षेपः॥ १०॥

२२९ मार्यमारकयोरनित्यत्वानुसंधानात्संनिहितेऽपि मृत्यौ ज्ञानिनस्त्रासः कथमित्याह—

२३०
मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन्विगतकौतुकः ।
अपि संनिहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः ११

२३०] इदं विश्वं मायामात्रं पश्यन् विगतकौतुकः धीरधीः सन्निहिते मृत्यौ अपि कथं त्रस्यति ॥

२३१) इदं दृश्यमानं । विश्वं मार्यमारकादिरूपं । समग्रं मायामात्रं असद्रूपं । पश्यन् अत एव । कुत इदं शरीरादिकं जायते । कुत्र विलयं यातीत्येवंरूपकौतुकरहितस्तथा धीरधीः धीरा स्वस्वरूपादचला धीरस्य सः । सन्निहिते मृत्यौ सति अपि । कथं त्रस्यति इत्याक्षेपः ॥ ११ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooooooo

२३२ सर्वेषामाक्षेपाणां समर्थनार्थं ज्ञानिनो निरुपमत्वमाह—

२३३
निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः ।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते ॥१२॥

२३३] यस्य महात्मनः मानसं नैराश्ये अपि निः-स्पृहं तस्य आत्मज्ञानतृप्तस्य केन तुलना जायते ॥

२३४) यस्य । नैराश्ये मोक्षे अपि । मानसं निःस्पृहं । तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य ब्रह्माहम-स्मीति जानतः समाप्तसर्वमनोरथस्य । केन समं तुलना जायते । न केनापीत्यर्थः ॥ १२ ॥

२३५ज्ञानिनः हानोपादानादिव्यवहारमाक्षिपति—

[२३६] स्वभावादेव जानानो दृश्यमेतन्न किंचन ।
इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः१३

२३६] स्वभावात् एव जानानः दृश्यं किंचन न धीरधीः सः इदं ग्राह्यं इदं त्याज्यं एतत् किं पश्यति ॥

२३७) प्रपंचो मिथ्या । दृश्यत्वात् । शुक्तिका-रजतवदित्यनुमानात् । एतत् दृश्यं न किं-चन । न सन्नाप्यसदिति जानानो निश्चयवान्यो धीरधीः । स इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं इति । पश्यति इत्याक्षेपः ॥ १३ ॥

२३८ अत्र हेतुमाह—

अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ।
यदृच्छयागतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये १४

२३९] अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः यदृच्छया आगतः भोगः दुःखाय न तुष्टये न ॥

२४०) अंतःकरणात्त्यक्ताः कषायाः विषयवासना येन तस्य । निर्द्वन्द्वस्य शीतोष्णादिद्वन्द्वरहितस्य । अतएव निराशिषः विषयवासनाविहीनस्य । यदृच्छया दैवयोगात् । आगतः प्राप्तः । भोगः सुखसाधनो विषयो । दुःखाय न भवति । तुष्टये च न भवति ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां [illegible] नाम तृतीयं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

॥ अथ शिष्यप्रोक्तानुभवोल्लासः ॥ ४ ॥

गुरुणैवमुपाक्षिप्तः शिष्यो ज्ञानदृशोल्लसन् ।
ज्ञानिन्यशेषचेष्टानां स्पष्टमाचष्ट संभवम् ॥ १ ॥

२४१ एवं तावद्गुरुणा परीक्षार्थमाक्षिप्तः शिष्यः। प्रारब्धवशाद्बाधितानुवृत्त्या ज्ञानिन्यपि सर्वेव्यवहाराणामुपपत्तिमात्मज्ञानोल्लासवशादेवाह। षड्भिःश्लोकैः—

हंतात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया ।
न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानता ॥१॥

२४२] हंत आत्मज्ञस्य धीरस्य भोगलीलया खेलतः संसारवाहीकैः मूढैः सह न हि समानता ॥

२४३) हंत इति आत्मज्ञानोल्लसिते हर्षे। हे गुरो। आत्मज्ञस्य सर्वाधिष्ठानतया स्वात्मानं जानतः अत एव धीरस्य विषयैरविक्षिप्तचित्तस्य। भोगलीलया विषयभोगादिरूपया लीलया क्रीडया प्रारब्धवशात्प्रवृत्तया। खेलतः क्रीडतः। संसारवाहीकैः संसारवृत्तिपशुभिः। मूढैः देहाद्यात्मवेदिभिः सह। न हि समानता नैव तुल्यत्वं ॥ तदुक्तं भगवता "तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः॥ गुणा गुणेषु वर्त्तंत इति मत्वा न सज्जते" ॥ १ ॥

२४४ ननु संसारव्यवहारस्थो ज्ञानी । कथं न संसारितुल्य इत्याशंक्य । हर्षादिरहितत्वात्तस्य वैलक्षण्यमाह—

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः ।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति॥२॥

२४५] अहो शक्राद्याः सर्वदेवताः यत् पदं प्रेप्सवः दीनाः तत्र स्थितः योगी न हर्षं उपगच्छति ॥

२४६) अहो इति संबोधने । हे गुरो । यद्वा अहो आश्चर्ये । शक्राद्याः सर्वदेवताः अपि । यत्पदं प्रेप्सवः यत्पदं प्राप्तुमिच्छंतो । दीनाः तदप्राप्तितः शोच्या वर्त्तंते । तत्र सच्चिदानंदाख्ये पदे । स्थितः तत्त्वंपदार्थैक्यज्ञानात्तत्र वर्त्तमानो । योगी लब्धसाक्षात्कारो । विषयभोगात् न हर्षं प्राप्नोति । नापि तदपगमादुद्विग्नो भवतीत्यर्थः॥२॥

२४७ तत्त्वज्ञस्य विध्यकिंकरत्वं वक्तुं पुण्याद्यसंस्पर्शमाह—

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यंतर्न जायते ।
न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानापि संगतिः ॥३

२४८] तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां अंतः स्पर्शः न हि जायते ॥

२४९) तत्त्वंपदार्थैक्याभिज्ञस्य । पुण्यपापाभ्यां सह अंतःकरणधर्माणां स्पर्शः संबंधो न जायते । "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा" इति स्मृतेः ॥

२५० अत्र दृष्टांतमाह—

२५१] हि आकाशस्य धूमेन दृश्यमाना अपि संगतिः न ॥

२५२) यथा हि आकाशस्य धूमेन सह दृश्यमानापि संगतिः नास्ति । तथात्मज्ञस्य न पुण्यादिसंगतिरित्यर्थः ॥ ३ ॥

२५३ ननु कर्मणि कृते । कथं न पुण्यादि-स्पर्श इत्याशंक्य । ज्ञानिनो विधिनिषेधानियम्य-त्वमाह—

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना ।
यदृच्छया वर्त्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः ॥४॥

२५४] येन महात्मना इदं सर्वं जगत् आत्मा एव ज्ञातं तं यदृच्छया वर्त्तमानं कः निषेद्धुं क्षमेत ॥

२५५) येन महात्मना । इदं दृश्यमानं । सर्वं जगत् । आत्मैव इति ज्ञातं । तं ज्ञानिनं । यदृच्छया प्रारब्धवशादेव वर्त्तमानं को वचःकलापो । निषेद्धुं प्रवर्त्तयितुं वा । क्षमेत समर्थो भवेत् । न कोऽपीत्यर्थः ॥ तदुक्तं शारीरक-भाष्ये "अविद्यावद्विषयो वेदः" इति । "प्रबोध-नीय एवासौ सुप्तो राजेव वंदिभिः" इति स्मृतिरपि ॥ ४ ॥

२५६ ननु ज्ञानिनोऽपि न यदृच्छया प्रवर्त्तते । किंत्विच्छानिच्छयोर्निवर्त्तयितुमशक्यत्वादित्याशंक्याह—

२५७ आब्रह्मस्तंबपर्यंते भूतग्रामे चतुर्विधे ।
विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यमिच्छानिच्छाविवर्जने॥५

२५७] आब्रह्मस्तंबपर्यंते चतुर्विधे भूतग्रामे विज्ञस्य एव हि इच्छानिच्छाविवर्जने सामर्थ्यम् ॥

२५८) यद्यपि । ब्रह्माणमारभ्य स्तंबपर्यंते । इच्छानिच्छे विवर्जयितुमशक्ये । तथापि । विज्ञस्यैव इच्छाद्वेषनिवर्त्तने सामर्थ्यमतो यदृच्छया प्रवर्त्तमानो ज्ञानी न विधिनिषेधनियम्य इत्यर्थः ५

२५९ अद्वैतज्ञानेन द्वितीयस्य वाधितत्वात् ज्ञानिनां भयहेतुः कोऽपि नास्तीत्युपसंहरति—

२६ आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम् ।
यद्वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित् ॥६॥

२६०] कश्चित् जगदीश्वरम् आत्मानं अद्वयं जानाति

सः यत् वेत्ति तत् कुरुते तस्य कुत्रचित् भयं न ॥

२६१) कश्चित् सहस्रेषु एक एव जगदीश्वरं तत्पदार्थं आत्मानं त्वं पदार्थं अद्वयं अभिन्नतया जानाति । स यद्वेत्ति प्रारब्धवशाद्बाधितानुवृत्त्येदं कर्तव्यमिति मन्यते तत् करोति । एवं कुर्वतः तस्य कुत्रचित् इह वामुत्र वा भयं न अस्ति । भयहेतोर्द्वैतज्ञानबाधितत्वादिति भावः ॥ ६ ॥

इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतायां शिष्यप्रोक्तानुभवोल्लासषट्कं नाम चतुर्थं प्रकरणं समाप्तम्॥४॥

॥ अथाचार्योक्तं लयचतुष्टयं नाम पंचमं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ ५ ॥

एवमुल्लासषट्केन स्वशिष्येऽपि परीक्षिते ।
गुरुर्दृढोपदेशार्थं लययोगमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

२६२ एवमुल्लासपट्केन स्वशिष्ये परीक्षिते सति । पुनर्दृढोपदेशार्थमाचार्यो लयमुपदिशति । श्लोकचतुष्टयेन—

२६३
न ते संगोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।
संघातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज ॥ १ ॥

२६३] ते केन अपि संगः अस्ति न शुद्धः किं त्यक्तुं इच्छसि संघातविलयं कुर्वन् एवम् एव लयं व्रज ॥

२६४) हे शिष्य । शुद्धबुद्धस्वभावस्य तव केनापि देहगेहादिनाहंकारममकारास्पदेन न संगोऽस्ति। अतः शुद्धः असंगस्त्वं। किं त्यक्तुं। किमुपादातुं च इच्छसि । तस्मात् संघातस्य देहस्य विलयं कुर्वन् अहं देहीति निरसनं कुर्वन्। एवं देहादिनिरसनरूपं एव लयं व्रज ॥१

२६५
उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः ।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज ॥ २ ॥

२६५] वारिधेः बुद्बुदः इव भवतः विश्वं उदेति । इति एकं आत्मानं ज्ञात्वा एवम् एव लयं व्रज ॥

२६६) हे शिष्य । भवतः सकाशात् । विश्वं उदेति भवदभिन्नमेव । यथा वारिधेः सकाशात् बुद्बुदो वारिधेरभिन्न एव उदेति । इति एवंप्रकारेण । एकं सजातीयादिभेदरहितं । आत्मानं ज्ञात्वा । एवमेव एकात्मज्ञानमेव । लयं व्रज॥२

००००००००००००००००००००००००००००००

२६७ ननु प्रत्यक्षतो भिन्नतया हारसर्पादिभेदे प्रतीयमाने कथं हारादिविलय इत्यत्राह—

२६८
प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि ।
रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज ॥ ३ ॥

२६८] प्रत्यक्षं अपि व्यक्तं विश्वं अमले त्वयि न अस्ति रज्जुसर्पः इव अवस्तुत्वात् एवम् एव लयं व्रज ॥

२६९) प्रत्यक्षमपि व्यक्तं दृश्यं विश्वं। अमले त्वयि। नास्ति एव । अवस्तुत्वात्। रज्जुभुजंगवत्। तस्मात् एवमेव लयं व्रज॥ द्वितीयस्य हेयोपादेयस्यैवाभावादित्यर्थः ॥ ३ ॥

oooooooooooooooooooooooooooooooo

२७०
समदुःखसुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः।
समजीवितमृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज ॥ ४ ॥

२७०] पूर्णः समदुःखसुखः आशानैराश्ययोः समः समजीवितमृत्युः सन् एवं एव लयं व्रज ॥

२७१) पूर्ण आत्मानंदपूर्णस्त्वमत एव। दैववशादुद्भूतयोः सुखदुःखयोः समः। आशानैराश्ययोः च समः। तथा जीविते मृत्यौ वा समः निर्विकारः । सुखदुःखादीनामनात्मधर्माणां तुच्छत्वानुसंधानात्त्वं सुखदुःखादिषु समः। ब्रह्मदृष्टिरूपं लयं व्रज इत्यर्थः ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतायामाचार्योक्तं लयचतुष्टयं नाम पंचमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ५ ॥

॥ अथ शिष्योक्तमुत्तरचतुष्कं नाम षष्ठं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ ६ ॥

गुरुणैवं परीक्षार्थमुपदिष्टे लये सति ।
पूर्णात्मनो लयादीनां शिष्योऽसंभवमब्रवीत् ॥ १ ॥

२७२ तदेवं गुरुणात्यंतपरीक्षार्थं लययोगे समुपदिष्टे सति । लयाद्यमात्रोपपादकमात्मज्ञान-मनुवदन्नेव शिष्यः । पूर्णात्मनो लयाद्यसंभवमाह । चतुर्भिः श्लोकैः—

आकाशवदनंतोऽहं घटवत्प्राकृतं जगत् ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः १

२७३] अहं आकाशवत् अनंतः ॥

२७४) अहं आत्मा । आकाशवदनंतः ॥

२७५ नन्वनंतस्यात्मनो देहादिनिवासः कथ-मित्यत आह—

२७६] प्राकृतं जगत् घटवत् ॥

२७७) प्राकृतं प्रकृतिकार्यं । जगत् देहादिकं । घटवत् । यथा घट आकाशस्यावच्छेदको निवासस्थानं च । तथात्मनो देहादिरेकदेशावच्छेदक एव । व्योम्न इव घटादिरित्यर्थः ॥

२७८ अत्र प्रमाणमाह—

२७९] इति ज्ञानं ॥

२८०) इति एवं । वेदांतसिद्धं ज्ञानं अनुभवरूपमत्र प्रमाणमतो नान्यथाभावशंकेत्यर्थः ॥

२८१] तथा एतस्य त्यागः न ग्रहः लयः न ॥

२८२) तथा सत्यात्मनोऽनंतत्वे सति । एतस्य आत्मनः । त्यागो । ग्रहणं । लयः च । न संभवति । परिच्छिन्नस्यैव घटादेस्त्यागादिदर्शनादित्यर्थः ॥ १ ॥

२८३ घटाकाशदृष्टान्तं देहात्मनोर्निदर्श्याऽत्मनो आदित्यपरितोषादाह—

२८४
महोदधिरिवाहं स प्रपंचो वीचिसन्निभः ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥२॥

२८४] महोदधिः इव अहं सः प्रपंचः वीचिसन्निभः इति ज्ञानं तथा एतस्य न त्यागः ग्रहः लयः न ॥

२८५) महोदधिः इति स्पष्टं ॥ २ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooooo

२८६ समुद्रवीचिदृष्टान्तं देहात्मनोर्विकार-विकारित्वं आदित्यपरितोषादाह—

२८७
अहं स शुक्तिसंकाशो रूप्यवद्विश्वकल्पना ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥३॥

२८७] अहं सः शुक्तिसंकाशः रूप्यवत् विश्वकल्पना इति ज्ञानं तथा एतस्य न त्यागः ग्रहः लयः न ॥

२८८) स्पष्टं ॥ ३ ॥

२८९ शुक्तिदृष्टांतेऽप्यात्मनि परिच्छिन्नत्व-शंका स्यात्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—

२९०
अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥४॥

२९०] अहं वा सर्वभूतेषु अथ सर्वभूतानि मयि इति ज्ञानं तथा एतस्य न त्यागः ग्रहः लयः न ॥

२९१) अहं वा अहमेव। सर्वभूतेषु प्रकृति-प्राकृतिकेषु । सत्तास्फूर्त्यादिप्रदत्वेनास्मि । अथ अतो हेतोः । सर्वभूतानि। अधिष्ठानभूते मयि। वर्तंत इति ज्ञानं वेदांतसिद्धं । तथा सत्यात्मन-स्त्यागादिकं न संभवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतायां शिष्यप्रोक्तमुत्तरचतुष्कं नाम षष्ठं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ६ ॥

॥ अथानुभवपंचकं नाम सप्तमं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ ७ ॥

लययोगाननुष्ठाने व्यवहारं निरंकुशम् ।
आशंक्य शिष्यः स्वोल्लासादब्रवीद्गुरुमुत्तमम् ॥१॥

२९२ ननु लययोगाभावे संसारविक्षेपो निरंकुशः प्रसरः स्यादित्याशंक्य । तस्यानिष्टत्वाभावमनुभवपंचकेनोत्तरमाह शिष्यः—

[२९३] मय्यनंतमहांभोधौ विश्वपोत इतस्ततः ।
भ्रमति स्वांतवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता॥१॥

२९३] मयि अनंतमहांभोधौ विश्वपोतः स्वांतवातेन इतस्ततः भ्रमति मम असहिष्णुता न अस्ति ॥

२९४) हे गुरो । मयि आत्मनि । अनंते महासमुद्रे । विश्वाख्यः पोतो नौका । स्वांतवातेन मनः पवनेन । इतस्ततो भ्रमति । अत्र मम असहिष्णुता असहनशीलता । न अस्ति । समुद्रस्येव नौकापरिभ्रमण इत्यर्थः ॥ १ ॥

२९५ जगद्व्यवहारस्यानिष्टत्वाभावः पूर्व-मुक्तः। अथ जगदुदयापगमयोरपि नानिष्टतेत्याह—

मय्यनंतमहांभोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः ।
उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः ॥२॥

२९६] मयि अनंतमहांभोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः उदेतु वा अस्तं आयातु मे न वृद्धिः न च क्षतिः ॥

२९७) आत्मनि । अनंते विनाशरहिते । महति व्यापके अंभोधौ समुद्रे।जगदाख्या वीचिः। स्वभा-वतः दृश्यत्वादिस्वभावात् । उदेतु । वा परं । अस्त-मायातु । मम तदुदये वृद्धिर्न अस्ति । व्यापकत्वा-त्तदपगमे च क्षतिर्न अस्ति । अनंतत्वादित्यर्थः॥२॥

२९८ पूर्वं दृष्टांतेन स्वात्मनः जगद्विकार इति भ्रमपरिणामित्वं स्यात्तद्वारणार्थमाह—

मय्यनंतमहांभोधौ विश्वं नाम विकल्पना ।
अतिशांतो निराकार एतदेवाहमास्थितः ॥३॥

२९९] मयि अनंतमहांभोधौ नाम विश्वं विकल्पना अतिशांतः ॥

३००) मय्यनंतमहांभोधौ। नाम प्रसिद्धं। विश्वं। कल्पना भ्रममात्रमेव। न तु तात्त्विकं॥अतः-कारणात्। अहं अतिशांतः प्रपंचोपप्लवरहितः॥

३०१ अत्र हेतुमाह—

३०२] निराकारः एतद् एव अहं आस्थितः॥

३०३) एतद् आत्मज्ञानं एव। अहमा-स्थितः आश्रितो। न तु लययोगं। तस्य पूर्व-मेव दूषितत्वात्॥ ३॥

३०४ अतिशांतत्वमेव स्पष्टयति—

३०५नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानंते निरंजने।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शांत एतदेवाहमास्थितः॥४॥

३०५] आत्मा भावेषु न। भावः तत्र अनंते निरंजने न इति अहं असक्तः अस्पृहः शांतः एतत् एव आस्थितः॥

३०६) आत्मा भावेषु देहादिषु। आधेयतया न अस्ति। व्यापकत्वात्॥ भावो देहादिः। तत्र आत्मनि। नास्ति। अनंते निरंजने सति। इति

कारणात् । अहं असक्तः संसर्गरहितः । अत एव अस्पृह इच्छादिधर्मासंश्लिष्टोऽत एव शांत इत्यर्थः ४

०००००००००००००००००००००००००००००००

२०७ इच्छादिरहितत्वे हेत्वंतरमप्याह—

३०८

अहो चिन्मात्रमेवाहमिंद्रजालोपमं जगत् ।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ ५ ॥

३०८] अहो चिन्मात्रं एव अहं जगत् इंद्रजालोपमं अतः मम कुत्र कथं हेयोपादेयकल्पना ॥

३०९) अहो इत्याश्चर्यरूपमलौकिकं । चिन्मात्रं चैतन्यमात्रं । एवाहं । जगत् सर्वं प्रपंचजातं । इंद्रजालोपमं दर्शनकालेऽपि पृथक् सत्तारहितं । अस्य विश्वस्य पृथक् सत्तारहितत्वात् । मम कुत्र वस्तुनि । कथं केन प्रकारेण । हेयोपादेयबुद्धिः स्यान्न कुत्रापीत्यर्थः ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीमद्विश्वे० मनुभवपंचकविवरणं नाम सप्तमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ७ ॥

॥ अथ गुरुप्रोक्तं बंधमोक्षव्यवस्था-चतुष्कं नामाष्टमं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ ८ ॥

इत्थं परीक्षितज्ञानं शिष्यमेवाभिनंदितुम् ।
गुरुर्बंधस्य मोक्षस्य व्यवस्थां सम्यगब्रवीत् ॥ १ ॥

३१० तदेवं षड्भिः प्रकरणैः । स्वशिष्यं सम्यक् परीक्ष्य । बंधमोक्षव्यवस्थानिरूपणव्याजेन गुरुः । स्वशिष्यानुभवमभिनंदति। चतुर्भिःश्लोकैः—

"तदा बंधो यदा चित्तं किंचिद्वांछति शोचति ।
किंचिन्मुंचति गृह्णाति किंचिद्धृष्यति कुप्यति १

३११] चित्तं यदा किंचित् वांछति शोचति किंचित् मुंचति गृह्णाति किंचित् हृष्यति कुप्यति तदा बंधः ॥

३१२) हे शिष्य । "अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना" इत्यंतं यत्त्वयोक्तं । तत्तथैव यतः चित्तं यदा विषयवांछादिविकारवद्भवति । तदा एव जीवस्य बंध इत्यर्थः ॥ १ ॥

[३१३] तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वांछति न शोचति ।
न मुंचति न गृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति ॥२॥

३१३] यदा चित्तं न वांछति न शोचति न मुंचति न गृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति तदा मुक्तिः ॥

३१४) यदा चित्तं वांछादिविकारातीतं । तदा मुक्तिः इत्यर्थः ॥ २ ॥

---

३१५ तदेवं पृथक् बंधमोक्षावुक्तौ । अथ समुच्चयेन बंधमोक्षावाह—

[३१६] तदा बंधो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु ।
तदा मोक्षो यदा चित्तमसक्तं सर्वदृष्टिषु ॥ ३ ॥

३१६] यदा चित्तं कासु अपि दृष्टिषु सक्तं तदा बंधः यदा चित्तं सर्वदृष्टिषु असक्तं तदा मोक्षः ॥

३१७) यदा चित्तं कास्वपि अनात्मदृष्टिषु । संसक्तं । तदा बंधः ॥ यदा चित्तं सर्वास्वपि विषयदृष्टिषु । संसक्तं न भवति । तदा मोक्ष इत्यर्थः ॥ ३ ॥

३१८ अस्तु वा बाधितानुवृत्त्या दग्धपटोपमाना सर्वोपि विषयदृष्टिर्बंधहेतुस्तन्निवृत्तौ मोक्ष इति पूर्वमुक्तं । तथाप्यहंकारनिवृत्तौ । मोक्षस्तदनिवृत्तौ बंध इति वदन्नेव शिष्योक्तमर्थमभिनंदितुमनुवदति—

३१९ यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बंधनं तदा ।
मत्वेति हेलया किंचिन्मा गृहाण विमुंच मा॥४॥

३१९] यदा अहं न तदा मोक्षः यदा अहं तदा बंधनं इति मत्वा हेलया किंचित् मा गृहाण मा विमुंच॥

३२०) यदाहं इत्येवंरूपोऽहंकाराध्यासोऽनर्थमूलभूतो निवर्त्तते तदा मोक्षः ॥ यदा च सोऽनुवर्त्तते तदा बंधनं इति ज्ञात्वा । हेलया अनायासेनैव हानोपादानादिक्रियाणामकर्ता त्वमसि । अकर्त्रात्मज्ञानेन कर्तृत्वाभिमानो निवर्त्तत इति भावः ४

॥ इति श्रीमद्दि० गुरुप्रोक्तं बंधमोक्षचतुष्कं नामाष्टमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ८ ॥

॥ अथ निर्वेदाष्टकं नाम नवमं प्रकरणं ॥ ९ ॥

शिष्योक्तानुभवस्यैव दार्ढ्यार्थं गुरुणोच्यते ।
निर्वेदः स्पष्टमष्टाभिरिच्छादित्यजनात्मकः ॥ १ ॥

३२१ " मत्वेति हेलया किंचिन्मा गृहाण " इति यदुक्तं । तत्र किं द्वारमित्यपेक्षायां । गुरुरनुमोदनमुद्रया वैराग्याष्टकमाह—

[३२२] कृताकृते च द्वंद्वानि कदा शांतानि कस्य वा ।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्यागपरोऽव्रती ॥१॥

३२२] कृताकृते द्वंद्वानि च कस्य कदा वा शांतानि एवं ज्ञात्वा इह निर्वेदात् त्यागपरः भव अव्रती ॥

३२३) कृताकृते इदं कर्त्तव्यमिदमकर्त्तव्यमित्यभिनिवेशौ । द्वंद्वानि सुखदुःखादीनि । कस्य । कदा वा । शांतानि निवृत्तानि । अपि तु न कस्यापि कदापि शांतानीत्यर्थः ॥ एवं ज्ञात्वा ।

इह कृताकृतादिषु । निर्वेदात् अभिनिवेशादि-परित्यागादेव । त्यागपरो भव । कीदृशस्त्वं अव्रती नास्ति व्रतं कुत्रापि आग्रहो यस्य सः॥१॥

०००००००००००००००००००००००००००००००००

३२४ चित्तधर्मत्यागरूपो निर्वेदस्तु कस्यचिदेव स्यान्न तु सर्वस्येत्याह—

[३२५] कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात् ।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गताः॥२॥

३२५] तात कस्य अपि धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात् जीवितेच्छा च बुभुक्षा बुभुत्सा उपशमं गताः ॥

३२६) हे तात शिष्य । सहस्रेषु मध्ये कस्यचिदेव धन्यस्य उत्पत्तिविनाशरूप-लोकचेष्टावलोकनात् । जीवितेच्छा-भोगेच्छाज्ञानेच्छादयः। उपशमं गताः ॥ इदं तु तादृशं निर्वेदसंपन्नशिष्यमभिनंदितुमेवोच्यते । न तूपदिश्यते इति प्रागुक्तमेव ॥ २ ॥

३२७ ननु ज्ञानिनां सर्वत्रेच्छोपशमः किं हेतुक इत्यत आह—

३२८
अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् ।
असारं निंदितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति ३

३२८] इदं सर्वं एव अनित्यं तापत्रितयदूषितं असारं हेयं निंदितं इति निश्चित्य शाम्यति ॥

३२९) इदं दृश्यमानं सर्वप्रपंचजातं । अनित्यं चैतन्येऽध्यस्तं । तथा पृथक् सत्त्वेन गृह्यमाणं सत् आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकतापत्रयदूषितं । अत एव असारं तुच्छमसत् एव । हेयं पृथक्सत्तया नैवादरणीयं । इति निश्चित्य । ज्ञानी शाम्यति कुत्रापीच्छां न कुरुते ॥ ३ ॥

३३० द्वंद्वानामारब्धकर्मवशादवश्यं भावित्वात् । तत्रेच्छानिच्छे विहाय यथाप्राप्तभोगी मुक्तिमवाप्नुयादित्याह—

३३१
कोऽसौ कालो वयः किंवा यत्र द्वंद्वानि नो नृणाम्
तान्युपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती सिद्धिमवाप्नुयात्॥४॥

३३१] यत्र नृणां द्वंद्वानि न असौ कः कालः वा किं वयः तानि उपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती सिद्धिं अवाप्नुयात् ॥

३३२) यत्र नृणां द्वंद्वानि सुखदुःखादीनि न संति । असौ कः कालः॥ का वा बाल्यादिवयोलक्षणा शरीरावस्था । अपि तु न कापीति विचार्य । तानि द्वंद्वानि । उपेक्ष्य तत्रेच्छामकृत्वा । यथाप्राप्तेष्वनासक्ततया वर्ती । सिद्धिं मुक्तिं अवाप्नुयात् इत्यर्थः ॥ ४ ॥

३३३ तर्कशास्त्रादिज्ञानेषु निष्ठा न कर्त्तव्या । नानाविप्रतिपत्तिग्रस्तत्वान्नापि कर्मसु नाप्यष्टांग-योगादिष्वित्याह—

**[334]नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा ।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः॥५॥**

३३४] महर्षीणां साधूनां तथा योगिनां मतं नाना दृष्ट्वा निर्वेदम् आपन्नः कः मानवः शाम्यति न ॥

३३५) महर्षीणां गौतमजैमिनिप्रभृतीनां । मतं । नानाविधं परिच्छिन्नं । दृष्ट्वा । तर्कशास्त्रादि-भ्यो निर्वेदमापन्नः । तथा साधूनां कर्म-निष्ठानां मतं नानाविधं । केचिद्धोमपराः । केचिज्जप-पराः । केचित् कृच्छ्रचांद्रायणादिपराः । इति नाना-विधं मतं दृष्ट्वा । कर्मभ्योऽपि निर्वेद-मापन्नः केवलमात्मानुसंधाननिष्ठः । को न शाम्यति कः सुखं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

२२६ केवलं ज्ञाननिष्ठानेवाखिल कर्मादिकं ना कुर्वित्याह—

कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य नकिंगुरुः ।
निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः ॥६॥

२२७] निर्वेदसमतायुक्त्या चैतन्यस्य मूर्तिपरिज्ञानं कृत्वा नकिंगुरुः यः संसृतेः तारयति ॥

२२८) निर्वेदसमतायुक्त्या। निर्वेदो नाम विषयाणामनित्यत्वबुद्धिर्नैतेषु समता सर्वभाव-बुद्धिर्यत्किंचिन्नाशि तुल्यबुद्धिरहस्त्वकः । युक्तेः । चैतन्यस्य सच्चिदानंदस्य । मूर्तिपरिज्ञानं स्वरूप-साक्षात्कारं । कृत्वा । तदनंतरं नास्ति कश्चिद्गुरु-र्यस्य स नकिंगुरुः । एवंविधो यः । स संसृतेः सकलाज्ञानात् तारयति ॥ ६ ॥

३३९ चेतनस्य स्वरूपज्ञानोपायमाह—

[३४०] पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः ।
तत्क्षणाद्बंधनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि ॥७

३४०] त्वं भूतविकारान् यथार्थतः भूतमात्रान् पश्य तत्क्षणात् बंधनिर्मुक्तः स्वरूपस्थः भविष्यसि ॥

३४१) हे शिष्य । भूतविकारान् देहेंद्रियादीन् । यथार्थतः तत्त्वतः । भूतमात्रान् । पश्य । न तु आत्मस्वरूपान् ॥ एवं सति । त्वं तत्क्षणाद्बंधनिर्मुक्तः शरीराहंभावनिर्मुक्तः सन् । शरीरादिविविक्तात्मस्वरूपस्थो भविष्यसि ॥ शरीरादावनात्मतया ज्ञाते सति । तत्साक्षीभूत आत्मा झटिति सुज्ञेय इति भावः ॥ ७ ॥

३४२ नन्वेवमात्मनि ज्ञातेऽपि । तत्र निष्ठा कथं स्यादित्याशंक्य । वासनात्यागादित्याह—

वासना एव संसार इति सर्वा विमुंच ताः ।
तत्त्यागो वासनात्यागात्स्थितिरद्य यथा तथा ८

३४३] वासना एव संसारः इति सर्वाः ताः विमुंच वासनात्यागात् तत्त्यागः अद्य स्थितिः यथा तथा ॥

३४४) वासना विषयवासना । एव संसार इति कारणात् । ता वासनास्त्वं विमुंच ॥ वासनात्यागात् च आत्मनिष्ठायां सत्यां । तस्य संसारस्य त्याग इत्यर्थः ॥ अद्य अधुना । वासनात्यागे सति । स्थितिर्यथा तथा यथा प्रारब्धं तथैवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतानां गुरुप्रोक्तं निर्वेदाष्टकं नाम नवमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ९ ॥

॥ अथ गुरुप्रोक्तमुपशमाष्टकं नाम दशमं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ १० ॥

विषयाणामभावेऽपि तुष्टिर्निर्वेद ईरितः ॥
तत्सिद्ध्यर्थं च विषये वैतृष्ण्यं शांतिरीर्यते ॥ १ ॥

३४५ विषयैर्विनापि संतोषरूपो निर्वेदः प्रागुक्तः । अथेदानीं विषयतृष्णोपशममभिनंदनमुद्रया गुरुरुदाहरति—

विहाय[३४६] वैरिणं काममर्थं चानर्थसंकुलम् ।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु ॥ १ ॥

३४६] कामं वैरिणं च अनर्थसंकुलं अर्थं एतयोः हेतुं धर्मं अपि विहाय सर्वत्र अनादरं कुरु ॥

३४७) कामं वैरिणं ज्ञानशत्रुं विहाय । तथा अनर्थसंकुलं अर्जने रक्षणे व्यये वानेकशोकदुःखसंकुलं । अर्थं विहाय । तथा । एतयोः अनयोः कामार्थयोः । हेतुं । धर्ममपि विहाय । सर्वत्र त्रिवर्गहेतुकर्मसु । अनादरं उपेक्षां । कुरु ॥ १ ॥

३४८ ननु मित्रक्षेत्रादिफलकेषु कर्मसु । कथमनादर इत्याशंक्य । मित्रादीनामनित्यत्वमाह—

स्वप्नेंद्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पंच वा ॥
मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादिसंपदः ॥ २ ॥

३४९] मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादिसंपदः स्वप्नेंद्रजालवत् पश्य त्रीणि वा पंच दिनानि ॥

३५०) हे शिष्य । मित्रादि-संपदः स्वप्नेंद्रजालवत्पश्य । यतो दिनानि । त्रीणि । पंच वा । स्थायिन्य इत्यर्थः ॥ २ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००००००

३५१ सर्वत्रानादरं कुरु इत्यनेनोक्तं वैतृष्ण्यं पुरुषार्थहेतुरित्याह—

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै ।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव ॥३॥

३५२] यत्र यत्र तृष्णा भवेत् तत्र वै संसारं विद्धि । प्रौढवैराग्यं आश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव ॥

३५३) यत्र यत्र येषु प्रसिद्धेषु विषयेषु । तृष्णा

भवेत् । तत्र तत्र तमेव । संसारं विद्धि । विषयतृष्णाया एव कर्मद्वारा संसारहेतुत्वात् ॥ अतः प्रौढवैराग्यं प्राप्तेऽप्यर्थे प्रीत्यभावमास्थाय । वीततृष्णः अप्राप्तार्थेच्छारहितः सन्नात्मनिष्ठया सुखी भव इत्यर्थः ॥ ३ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००००

३५४ अमुमेवार्थं भंग्यंतरेणाह—

३५५ तृष्णामात्रात्मको बंधस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
३५८ भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः ॥ ४ ॥

३५५] तृष्णामात्रात्मकः बंधः तन्नाशः मोक्षः उच्यते॥

३५६) तृष्णामात्रस्वरूप एव बंधः । कर्मवासनाद्वारा बंधहेतुत्वात् ॥ तन्नाशः तृष्णानाश एव । मोक्षो निवृत्तिहेतुत्वात् ॥

३५७ " तन्नाशो [क्षेण..." इत्यत्र हेतुमाह—

३५८] भवासंसक्तिमात्रेण तु मुहुर्मुहुः प्राप्तितुष्टिः ॥

३५९) भवतीति भवो देहादिविषयस्तत्र देहादिविषये संगाभावमात्रेण । मुहुर्मुहुः वारं

वारं । प्राप्तितुष्टिः आत्मप्राप्तिजः संतोषः स्यादतः तृष्णापगमे मोक्ष इत्यर्थः । प्राप्तिस्तुष्टिरिति पाठे प्राप्तिः स्वात्मप्राप्तिश्च स्यादित्यर्थः ॥ ४ ॥

००००००००००००००००००००००००००००

३६० ननु बुभुक्षारूपा तृष्णा कथं त्याज्ये-त्याशंक्याह—

३।१

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा ।
अविद्यापि न किंचित्सा का बुभुत्सा तथापि ते ५

३६१] त्वं एकः चेतनः शुद्धः विश्वं जडं असत् तथा सा अविद्या अपि तथा अपि ते किंचित् बुभुत्सा का ॥

३६२) इह जगति त्रय एव पदार्थाः आत्मा जगदविद्या च । तत्र आत्मा तावत् त्वं एव एकश्चेतनः शुद्धो न तु चिद्भिन्न इति स्वात्मानमेव एकं पूर्णं जानीहि । न अन्या पुनरात्मबुभुत्सा युक्ता नापि जगद्बुभुत्सा । जगतः असत्त्वात् जड-त्वाच्च । नापि अविद्याबुभुत्सा युक्ता । तस्या अपि सदसद्विलक्षणरूपतयानिर्वचनीयत्वात् तथा च । तव बुभुत्सापि का युक्ता । न काचिदपीत्यर्थः ५

३६३ जडं विश्वमसत् इत्युक्तं तद्विशदयति—

३६४ राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि॥६॥

३६४] राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि च सुखानि संसक्तस्य अपि तव जन्मनि जन्मनि नष्टानि ॥

३६५) राज्यादीनि सर्वाणि । संसक्तस्यापि आसक्तिं कुर्वाणस्यापि तव । जन्मनि जन्मनि नानाजन्मसु । नष्टानि इत्यतो विश्वमसदित्यर्थः ६

०००००००००००००००००००००००००००००००

३६६ बुभुत्सापि न कर्त्तव्या इति प्रागुक्तमथ धर्मार्थकामेष्वपीच्छा न कार्येत्याह—

३६७ अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा ।
३७० एभ्यः संसारकांतारे न विश्रान्तमभून्मनः॥७॥

३६७] अर्थेन कामेन सुकृतेन कर्मणा अपि अलं ॥

३६८) अर्थादिना अलं । अर्थधर्मकामेषु इच्छा न कार्येत्यर्थः ॥

३६९ अत्र हेतुमाह—

३७०] संसारकांतारे मनः एभ्यः विश्रांतं न अभूत्॥

३७१) यतः कारणात् । संसारकांतारे संसार-लक्षणे दुर्गमे वर्त्मनि भ्राम्यतस्तव । एभ्यः धर्मकामार्थेभ्यः । विश्रांतिर्भ्रमणविच्छेदो नाभूत् अतो अर्थादिषु न तृष्णा कर्त्तव्येत्यर्थः ॥ ७ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooo

३७२ तृष्णाया उपशमः प्रागुक्तः । अथ क्रिया-मात्रोपशमनमाह—

३ ६ २

कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा ।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम् ॥८॥

३७३] आयासदं दुःखं कर्म कायेन मनसा गिरा कति जन्मानि न कृतं तत् अद्यापि उपरम्यताम् ॥

३७४) हे शिष्य । आयासदं प्रयासदं । अत एव दुःखदं कर्म कायादिना कति जन्मानि न कृतं । अपि तु यावदद्य प्राचीनसर्वजन्मस्वपि कृतकर्मणा तु त्वयानर्थ एव लब्धः । तत् तस्मात् । अद्यापि अधुनापि । कर्मभ्य उपरम्यताम् ॥ ८ ॥

इति गुरुशोकानुपशमाष्टकं नाम दशमं प्रकरणं समाप्तम् ॥१०॥

॥ अथ ज्ञानाष्टकं नामैकादशं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ ११ ॥

उक्ता शांतिर्न विज्ञानं विना कस्यापि जायते ।
इति निश्चितुमेवाह गुरुर्ज्ञानामृताष्टकम् ॥ १ ॥

३७५ उक्ता शांतिर्विज्ञानादेव स्यान्न त्वन्यथेति बोधयितुं ज्ञानाष्टकमाह । तत्रादौ ज्ञानसाधनान्याह—

**३७६ भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी ।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति ॥१॥**

३७६] भावाभावविकारः स्वभावात् इति निश्चयी निर्विकारः च गतक्लेशः सुखेन एव उपशाम्यति ॥

३७७) भावाभाव-रूपो विकारः स्वभावात् मायातत्संस्कारादेव जायते । न तु निर्विकारादात्मन इति निश्चयवान्पुरुषो । निश्चयबलादेव सुखेन अनायासेन । एवोपशाम्यति ॥१॥

३७८ ननु मायाया जडत्वात्तत एव कथं भावाभावविकार इत्याशंक्याह—

ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी ।
अंतर्गलितसर्वाशः शांतः क्वापि न सज्जते॥२॥

३७९] इह ईश्वरः सर्वनिर्माता अन्य न इति निश्चयी अंतर्गलितसर्वाशः शांतः क अपि सज्जते न ॥

३८०) ईश्वरः एव सर्वनिर्माता न तु अन्यो जीवः ईश्वरपरवशत्वात् । इति निश्चयी पुरुषो निश्चयवशादेव अंतर्गलितसर्वाशः गतसर्वतृष्णः । अत एव शांतो निश्चलचित्तः सन् । क्वापि न सज्जते ॥ २ ॥

०००००००००००००००००० ००००००००००००

३८१ ननु ईश्वर एव चेत् सर्वनिर्माता । तर्हि कांश्चिद्दरिद्रान् । कांश्चित्तु धनिनस्तथा कांश्चित्सुखिनः कांश्चिद्दुःखिनो रचयतस्तस्य । वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामित्याशंक्याह—

ॐ आपदः संपदः काले दैवादेवेति निश्चयी ।
तृप्तः स्वस्थेंद्रियो नित्यं न वांछति न शोचति३

२८२] काले आपदः संपदः दैवात् एव इति निश्चयी तृप्तः नित्यं स्वस्थेंद्रियः न वांछति न शोचति ॥

२८३) काले समयविशेषे । आपदः संपदः च । दैवात् प्राक्तनादृष्टादेवेश्वरपरिपाचितात् एव इति निश्चयी अत एव तृप्तो वीततृष्णः । अत एव नित्यं स्वस्थेंद्रियो विषयानाकृष्टेंद्रिय अप्राप्तं न वांछति । नष्टं न शोचति इत्यर्थः॥३॥

---

२८४ ननूक्तनिश्चयवानपि कर्माणि कुर्वन्नेव दृश्यत इत्याशंक्याह—

ॐ सुखदुःखे जन्ममृत्यू दैवादेवेति निश्चयी ।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते ४

२८५] सुखदुःखे जन्ममृत्यू दैवात् एव इति निश्चयी साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन् अपि न लिप्यते ॥

३९० उक्तसाधनैः सिद्धज्ञानिनां निजदशा निरूपयति—

३९१ नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी ।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ ६॥

३९१] अहं देहः न मे देहः न बोधः अहं इति निश्चयी कैवल्यं इव संप्राप्तः कृतं अकृतं न स्मरति ॥

३९२) अहं देहो न । तथा मे देहो न । किं तु नित्यबोधोहमिति ज्ञानवशाद्देहादौ निवृत्ताहंममाभिमानः । देहादीनां कृतं अकृतं च । मया कृतमिति न स्मरति ॥ यथा कैवल्यं विदेहकैवल्यं प्राप्य कृताकृतं न स्मरति । तद्वदित्यर्थः ॥ ६ ॥

[293]आब्रह्मस्तंबपर्यंतमहमेवेति निश्चयी ।
निर्विकल्पः शुचिः शांतः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः ७

२९३] आब्रह्मस्तंबपर्यंतं अहं एव इति निश्चयी निर्विकल्पः शुचिः शांतः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः ॥

२९४) ब्रह्माणं हिरण्यगर्भमारभ्य तृण-स्तंब-पर्यंतं सर्वं जगत् अहमेवेति प्रत्यक्षनिश्चयवान् पुरुषः । निर्विकल्पः संकल्पविकल्पशून्यः । अत एव शुचिः विषयासंगरूपमलरहितः । अत एव शांतो निश्चलांतःकरणः । अत एव प्राप्ताप्राप्तयोरपि विषययोर्निर्वृतः परमसंतोषवान् आत्मानंदपूर्णत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

३९५ नन्वात्मज्ञानी कथं निर्विकल्पादिरूप इत्याशंक्याह—

[३९६]नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी । निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिव शाम्यति८

३९६] नानाश्चर्यं इदं विश्वं न किंचित् इति निश्चयी निर्वासनः स्फूर्तिमात्रः न किंचित् इव शाम्यति ॥

३९७) अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेणाध्यस्तबाधे सति । नानाश्चर्यं इदं विश्वं जगत् । न किं-चित् पृथक् सत्ताशून्यं । इति निश्चयी पुरुषः । निवृत्तवासनः केवलचिद्रूपः सन् । न किंचिदिव विशेषव्यवहारागोचर एव । शाम्यति निवृत्त-कार्यकारणोपाधिर्भवति । तत्त्वज्ञानेन सर्वस्यापि स्वप्नवन्निवृत्तेरित्यर्थः ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्विश्वे० ज्ञानाष्टकं नामैकादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ११ ॥

॥ अथ एवमेवाष्टकं नाम द्वादशं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ १२ ॥

गुरुणोदीरितं ज्ञानं न किंचिदिव शाम्यति ।
तत्स्वस्मिन्नप्यभिख्यातुं शिष्यो वदति सांप्रतम्॥१॥

३९८ उक्तं ज्ञानाष्टकेन "न किंचिदिव शाम्यति" इति । तदेव शिष्यः । स्वस्मिन्विशदयतुमेवमेवाष्टकमाह । तत्र प्रथमं कायवाङ्मनसां व्यापारोपरममाह—

३९९ कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः ।
अथ चिंतासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥ १ ॥

३९९] पूर्वं कायकृत्यासहः ततः वाग्विस्तरासहः अथ चिंतासहः एवम् एव तस्मात् अहं आस्थितः ॥

४००) अहं पूर्वं अपि कायिकरूपकर्मासहः । ततो हेतोः वाग्विस्तरासहः जपकर्मासहः । अथ अतो मनोव्यापाररूपा या चिंता तत्र असहस्तस्माद् हेतोः । एवमेव निर्व्यापार एव अहमास्थितः आसमस्म्येव स्थित इत्यर्थः ॥१॥

४०१ उक्तव्यापारत्रयोपरमहेतुं वदन्नेवोक्तमनुवदति—

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः ।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः ॥ २ ॥

४०२] शब्दादेः प्रीत्यभावेन आत्मनः च अदृश्यत्वेन विक्षेपैकाग्रहृदयः एवम् एव अहं आस्थितः ॥

४०३) क्षयिष्णुफलजनकस्य **शब्दादेः** शब्दकायकर्मद्वयस्य । **प्रीत्यभावेन** प्रीत्यविषयत्वेन । **आत्मनः च अदृश्यत्वेन** । त्रिविधविक्षेपेभ्यो व्यावृत्तं एकाग्रं हृदयं यस्य स **विक्षेपैकाग्रहृदय** इति मध्यमपदलोपी समासः । क्षयिष्णुफलजनकस्य जपादेः प्रीत्यविषयत्वाज्जपादिरूपो विक्षेपो न ममास्ति । आत्मनश्चादृश्यत्वाद्ध्यानाद्यविषयत्वाच्चितारूपोऽपि विक्षेपो मम नास्तीत्यर्थः । अत **एवमेव** स्वस्वरूपेणैव । **अहमास्थितः** ॥ २ ॥

४०४ ननु तथापि समाध्यर्थं व्यवहारः कर्त्तव्य इत्याशंक्य । नेत्याह—

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये ।
एवं विलोक्य नियममेवमेवाहमास्थितः ॥ ३ ॥

२०५] समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये एवं नियमं विलोक्य एवं एव अहं आस्थितः ॥

२०६) कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनर्थाध्यासादिभिः विक्षिप्तौ सत्यां तन्निरासार्थं । समाधये व्यवहारो नान्यथेति नियमं विलोक्य । शुद्धात्मज्ञानेन तदध्यासाभावादेव । समाधिशून्य एवाहमास्थित इत्यर्थः ॥ ३ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००

हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः ॥
अभावादद्य हे ब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः ॥ ४ ॥

२०७] हेयोपादेयविरहात् एवं हर्षविषादयोः अभावात् हे ब्रह्मन् अद्य एवम् एव अहं आस्थितः ॥

४०८) पूर्णात्मदर्शिनो मम हेयोपादेय-वस्तुनो विरहात् । अत एवं अमुना प्रकारेण । हर्षविषादयोः अपि अभावात् । हे ब्रह्मन् गुरो । अद्य अधुना । अहमेवमेवास्थित इत्यर्थः ॥ ४ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम् ॥
विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः ॥५॥

४०९] आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनं मम विकल्पं वीक्ष्य एतैः एवम् एव अहं आस्थितः ॥

४१०) आश्रमानाश्रमं । ध्यानं च । तथा तत्प्रयुक्तं चित्तस्वीकृतवर्जनं च । एतैस्त्रिभिरेव मम । विकल्पं संकल्पविकल्पं वीक्ष्य । अहमेवमेव एतत्त्रयरहित एव । आस्थितः ॥ ५ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

कर्मानुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा ॥
बुद्ध्वा सम्यगिदं तत्त्वमेवमेवाहमास्थितः ॥६॥

४११] यथा एव कर्मानुष्ठानं अज्ञानात् तथा उप-
रमः इदं सम्यक् बुद्ध्वा अहं एवम् एव अहं आस्थितः ॥

४१२) यथैव कर्मानुष्ठानमज्ञानात् । त-
थैवोपरमः कर्मोपरमोऽप्यज्ञानादेव । इदं । स-
म्यक् यथार्थतो । बुद्ध्वा एवं कर्मतदुपरमरहित
एव अहमास्थितः ॥ ६ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००००

४१३
अचिंत्यं चिंत्यमानोऽपि चिंतारूपं भजत्यसौ॥
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः॥७॥

४१३] अचिन्त्यं चिन्त्यमानः अपि असौ चिन्तारूपं
भजति तस्मात् तत् भावनं त्यक्त्वा एवम् एव अहं
आस्थितः ॥

४१४) अचिंत्यं ब्रह्मेति चिंत्यमानोऽपि
असौ । आत्मचिंतालक्षणं रूपं भजति ॥
तस्मात् हेतोः । तद्भावनं अचिंत्यं ब्रह्मेति भावनं ।
त्यक्त्वा अहमेवमेव भावनारहित एव ।
आस्थितः ॥ ७ ॥

४१५ एवमेवेत्यवस्थायाः साधकोऽपि श्रेष्ठः। किं पुनस्तत्स्वभाव इति कैमुतिकन्यायेनाह—

एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ ॥
एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ॥८॥

४१६] येन एवम् एव कृतं सः असौ कृतार्थः भवेत् यः एवम् एव स्वभावः सः असौ कृतार्थः भवेत् ॥

४१७) येन एवमेव सर्वक्रियारहितमेव स्वरूपं। साधनवशात् कृतं। सोऽसौ कृतार्थो भवेत् ॥ यः तु एवमेव स्वभाववान् सोऽसौ कृतार्थो भवतीति किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतायामेवमेवाष्टकं नाम द्वादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १२ ॥

॥ अथ यथासुखसप्तकं नाम त्रयोदशं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ १३ ॥

एवमेवेत्यवस्थायाः फलीभूतां सुखस्थितिम् ॥
आह शिष्यः स्फुटीकर्तुमहमासे यथा सुखम् ॥ १ ॥

४१८ अथ "एवमेव" इत्यवस्थायाः फलीभूतां सुखावस्थां स्वकीयां विशदयितुमाह—

४१९
अकिंचनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम् ॥
त्यागादाने विहायास्मादहमासे यथा सुखम् ॥ १

४१९] अकिंचनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वे अपि दुर्लभं अस्मात् त्यागादाने विहाय यथासुखं अहं आसे ॥

४२०) अकिंचनभवं सर्वसंगाभावप्रभवं । स्वास्थ्यं चित्तस्थैर्यं । कौपीनत्वेऽपि कौपीनासक्तावपि । दुर्लभं । अस्मात् कारणात् । अहं त्यागादाने विहाय त्यागादानयोरासक्तिं विहाय । यथासुखं सुखमनतिक्रम्य अहमासे । न कदाचित् दुःखीत्यर्थः ॥ १ ॥

४२१
कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते॥
मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम्

४२१] कुत्र अपि कायस्य खेदः कुत्र अपि जिह्वा खिद्यते कुत्र अपि मनः तत् त्यक्त्वा सुखं पुरुषार्थे स्थितः ॥

४२२) कुत्रापि शरीरकर्मणि । कायस्य खेदः । कुत्रापि वाचिककर्मणि । जिह्वा खिद्यते ॥ कुत्रापि ध्यानादिकर्मणि । मनः खिद्यते ॥ अतोऽहांतत्रयं अपि त्यक्त्वा । सुखं यथा स्यात्तथा । पुरुषार्थे स्वात्मन्येव । स्थितः २

ooooooooooooooooooooooooooooooooooooo

४२३ ननु कायवाङ्मनोव्यापारत्यागे । देह एव सद्यः पतेद्भोजनांबुपानादेरपि त्यागादित्याशंक्याह—

४२४
कृतं किमपि नैव स्यादिति संचिंत्य तत्वतः॥
यदा यत्कर्त्तुमायाति तत्कृत्वासे यथासुखम् ३

४२४] कृतं किं अपि तत्वतः न एव स्यात् इति संचिंत्य

यदा यत् कर्त्तुं आयाति तत् कृत्वा यथासुखं आसे ॥

४२५) शरीरेंद्रियादिभिः कृतं किमपि तत्वतः आत्मकृतं । न स्यादिति संचिंत्य । यदा यत् शरीरादिकर्म । कर्तुमायाति । तत् अहंकार-शून्यत्वेन कृत्वा । अहं यथासुखं आसे॥ ३ ॥

oooooooooooooooooooooooooooooooo

४२६ ननु कर्म वा नैष्कर्म्यं वा एकत्र निष्ठावश्यं स्वीकार्या । पुरुषार्थार्थिनेत्याशंक्याह—

४२७

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बंधभावा देहस्थयोगिनः ॥
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम् ॥ ४॥

४२७] कर्मनैष्कर्म्यनिर्बंधभावाः देहस्थयोगिनः अहं संयोगायोगविरहात् यथासुखं आसे ॥

४२८) कर्मनैष्कर्म्यनिर्बंध-रूपा-भावा स्वभावा। देहस्थयोगिनः देहासक्तयोगिन एव ॥ अहं तु देहसंयोगासंयोगविरहादपि यथासुखं आसे। तथा च मम देहाद्यासंगाभावान्न कर्मनैष्कर्म्य-निर्बंध इत्यर्थः ॥ ४ ॥

४२९ अथ लौकिकव्यापारेऽपि मम निर्बंध इत्याह—

४३० अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या न शयनेन वा
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् तस्मादहमासे यथासुखम्

४३०] मे स्थित्या गत्या अर्थानर्थौ न । वा शयनेन न । तस्मात् तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् अहं यथासुखं आसे ॥

४३१) मम स्थित्यादिना साध्यौ अर्थानर्थौ न स्तः । पूर्णानंदात्मदर्शित्वात् ॥ तस्मात् अनासक्त्या । तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् वा । अहं । यथासुखं आसे ॥ ५ ॥

४३२ एतदेव भंग्यंतरेणाह—

४३३ स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम् ६

४३३] स्वपतः मे हानिः न अस्ति । यत्नवतः वा सिद्धिः न । अस्मात् नाशोल्लासौ विहाय अहं यथासुखं आसे ॥

४३४) स्वपतो यत्नरहितस्य । मे मम । हानिः नास्ति ॥ यत्नवतः च वा मम । सिद्धिः फलविशेषप्राप्तिः नास्ति ॥ अस्मात् कारणाद्यत्नायत्नयोः नाशोल्लासौ विहायाहं यथासुखमासे ॥ ६ ॥

सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः ॥
शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥ ७

४३५] भावेषु सुखादिरूपानियमं भूरिशः आलोक्य शुभाशुभे विहाय अस्मात् अहं यथासुखं आसे ॥

४३६) भावेषु अवतारेषु सुखादिरूपानियमं सुखदुःखादिधर्माणामनित्यत्वं । भूरिशः बहुषु स्थलेषु । आलोक्य । तस्मात्सुखाद्यनित्यत्वदर्शनाद्धेतोः । अहं यथासुखमासे ॥ ७ ॥

॥ इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतायां यथासुखसप्तकं नाम त्रयोदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १३ ॥

॥ अथ शांतिचतुष्टयं नाम चतुर्दशं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ १४ ॥

उदीरतां सुखावस्थां समर्थयितुमात्मनि ॥
प्राह शिष्यः समावस्थां चतुःश्लोक्या गुरुं प्रति॥१॥

४३७ पूर्वं तु गुरुणोपशमाष्टकमुक्तं । संप्रति तु शिष्यः स्वसुखावस्थासमर्थनार्थमात्मनः शमावस्थामाह—

[४३८] प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद्भावभावनः ॥
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणो हि सः॥१॥

४३८] यः प्रकृत्या शून्यचित्तः प्रमादात् भावभावनः निद्रितः बोधितः इव सः हि क्षीणसंसरणः ॥

४३९) प्रकृत्या स्वभावेन । विषयेषु शून्यचित्तः । प्रमादात् बुद्धिपूर्वकमारब्धवशाद्भावान् विषयान् भावयति चिंतयतीति भावभावनः ।

क इव निद्रितो बोधित इव । स यथा निद्रा-
वशाच्छून्यचित्तः केनचित् बोधितत्वात्समादाद्भाव-
भावन्न एवंविधो यः पुमान् विषयेषु शांतचित्तः ।
सः हि निश्चितं क्षीणसंसरणः संसारहेतुविष-
यानुस्मरणाभावादित्यर्थः ॥ १ ॥

oooooooooooooooooo0ooooooooooooooo

४४०

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः ॥
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा॥२॥

४४०] मे यदा स्पृहा गलिता मे क्व धनानि क्व मि-
त्राणि क्व विषयदस्यवः क्व शास्त्रं च क्व विज्ञानं ॥

४४१) विषयभावनाशून्यस्य पूर्णात्मदर्शिनो मे ।
यदा स्पृहा विषयेच्छा गलिता । तदा मे मम ।
क्व धनानि । क्व विषय-रूपा दस्यवः चौराः
क्व । शास्त्रं च क्व । विज्ञानं अहं ब्रह्मास्मीति
निदिध्यासनं च क्व । धनादिविज्ञानात्तेष्वपि
ममास्था नास्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

४४२
विज्ञाते साक्षिपुरुपे परमात्मनि चेश्वरे ॥
नैराश्ये बंधमोक्षे च न चिंता मुक्तये मम॥३॥

४४२] साक्षिपुरुपे परमात्मनि ईश्वरे विज्ञाते च बंधमोक्षे नैराश्ये च मम मुक्तये चिंता न ॥

४४३) देहेंद्रियादीनां साक्षिपुरुपे त्वंपदार्थे । परमात्मनि चेश्वरे तत्पदार्थे । विज्ञाते ब्रह्माहमस्मीति साक्षात्कृते सति । नित्यनिर्मुक्तचिद्रूपात्मतानुभावात् बंधमोक्षे अपि नैराश्ये सति । मम मुक्त्यर्थं न चिंता ॥ ३ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००

४४४ नुनु प्रमादाद्भावभावकः कथं शांत इत्याशंक्याह—

४४५
अंतर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छंदचारिणः ॥
भ्रांतस्येव दशास्तास्तास्तादृशा एव जानते॥४

४४५] अंतर्विकल्पशून्यस्य बहिः भ्रांतस्य इव स्वच्छंदचारिणः ताः ताः दशाः तादृशाः एव जानते ॥

४४६) अंतःकरणे विकल्पशून्यस्य । बहिः भ्रांतस्येव स्वच्छंदचारिणः ज्ञानिनो । दशा- स्तादृशा एव ज्ञानिन एव । जानते ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतायां शिष्यप्रोक्तं शांतिचतुष्टयं नाम चतुर्दशं प्रकरणं समाप्तम् १४

॥ अथ तत्त्वोपदेशविंशतिकं नाम पंचदशं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ १५ ॥

दुर्लक्ष्यमात्मनस्तत्त्वं प्रत्यापयितुमंजसा ॥
शुश्रुस्तत्त्वोपदेशार्थं गुरुराह दयोदधिः ॥ १ ॥

४४७ यद्यपि प्रथममात्मतत्त्वोपदेश कृत एव। तथापि तदात्मतत्वमंतेवासिभ्यः पुनः पुनरुपदेष्टव्यं दुर्लक्ष्यत्वात्। यथा छांदोग्योपनिषदि नवकृत्वः श्वेतकेतुं प्रत्याचारशिक्षार्थमसकृदात्मोपदेशं गुरुराह। तत्रादौ ज्ञानाधिकारिणमनधिकारिणं चाह—

यथा तथोपदेशेन कृतार्थः सत्वबुद्धिमान्॥
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥१॥

४४८] सत्वबुद्धिमान् यथा तथा उपदेशेन कृतार्थः परः आजीवं जिज्ञासुः अपि तत्र विमुह्यति॥

४४९) सत्वबुद्धिमान् शिष्यो। यथा तथा आपाततोऽपि उपदेशेन कृतार्थः स्यात्। अत एव। कृतयुगे प्रणवमात्रोपदेशादपि शिष्याः कृतार्थाः बभूवुः। परः असत्वबुद्धिः। यावज्जीवं जिज्ञासुः अपि। बहुधोपदिष्टोऽपि विमुह्यति। यथा विरोचनो ब्रह्मणा बहुधोपदिष्टोऽपि सुमोहेवेत्यर्थः॥ १ ॥

४५० अथ वंधमोक्षौ सुखोपायेन संग्रहेण निरूपयति—

४५१

मोक्षो विषयवैरस्यं वंधो वैषयिको रसः ॥
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥२॥

४५१] विषयवैरस्यं एव मोक्षः वैषयिकः रसः वंधः एतावत् विज्ञानं यथा इच्छसि तथा कुरु ॥

४५२) विषयेष्वनुरागाभाव एव मोक्षः। विषयेष्वनुरागस्तु वंध इत्यर्थः । एवं तावदेव वंधमोक्षयोः विशिष्टं उत्कृष्टं ज्ञानं । एवं ज्ञात्वा च त्वं । यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २ ॥

oooooooooooooooooooooooooooooooo

४५३ इदं तु विषयवैरस्यं तत्त्वबोधसाध्यमित्याह—

४५४

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम् ॥
करोति तत्त्ववोधोऽयमतस्त्यक्तो वुभुक्षुभिः ३

४५४] अयं तत्त्ववोधः वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसं करोति अतः त्यक्तः वुभुक्षुभिः ॥

४५५) अयं प्रसिद्धः। आत्मतत्त्ववोधः। वाग्मिनं

जनं बहुचतुरवाक्यभाषिणं । मूकं करोति॥प्राज्ञं नानाविशेषवेदिनं जनं जडं करोति ॥ महोद्योगं नानाक्रियानुष्ठानशालिनं । अलसं निष्क्रियं करोति ॥ मनसः प्रत्यक्प्रवणतया वागादयः कुंठिता भवंति । ज्ञानी तद्रहितो भवतीत्यर्थः ॥ यतो यं तत्त्वबोधः वागादीन् कुंठितान्करोति । अतो भोगेच्छुभिः त्यक्तः अनादृत इत्यर्थः ॥३॥

०००००००००००००००००००००००००००००००००

४५६ तत्त्वबोधसिद्ध्यर्थमुपदिशति—

४५७
न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्त्ता न वा भवान्
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर॥४

४५७] त्वं देहः न । चिद्रूपः असि । न ते देहः । न वा भवान् कर्त्ता भोक्ता । सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर ॥

४५८) त्वं देहादिरूपो न भवसि। यतः चिद्रूपोऽसि । न ते तव देहसंबंधः । “ असंगो ह्ययं पुरुषः” इति श्रुतेः । न वा भवान् कर्त्ता भोक्ता । यतः कर्तृभोक्तृप्रभृतीनां सदा साक्षी ।

यो यत्साक्षी स तद्भिन्नः । यथा घटसाक्षी घटाद्भिन्न इत्यर्थः । अतस्त्वं देहतत्संबंधिषु अनपेक्षः सन् । सुखं चर इत्यर्थः ॥ ४ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooo

४५९ निरपेक्षत्वमुपपादयितुमाह—

४६० रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन ॥
४६३ निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर

४६०] रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनः कदाचन ते ॥

४६१) रागद्वेषौ तु मनोधर्मौ न तु तव धर्मौ । मनः तु कदाचिदपि तव संबंधि न भवति । अतस्तदध्यासाद्रागाद्यध्यासं मा कुर्वित्यर्थः॥

४६२ ननु रागद्वेषौ ममैव धर्मौ । कथं नेत्याशंक्याह—

४६३] निर्विकल्पः बोधात्मा असि निर्विकारः सुखं चर॥

४६४) यतस्त्वं निर्विकल्पः बोधात्मा च असि । अतो रागादिविकाररहितः सन् । सुखं चर इत्यर्थः ॥ ५ ॥

४६४

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥
विज्ञाय निरहंकारो निर्ममस्त्वं सुखी भव॥६॥

४६५] सर्वभूतेषु च आत्मानं विज्ञाय सर्वभूतानि च आत्मनि निरहंकारः निर्ममः त्वं सुखी भव ॥

४६६) सर्वभूतेषु कारणत्वेनानुस्यूतं आत्मानं विज्ञाय विभाव्य । सर्वभूतानि चात्मनि अध्यस्तानीति विभाव्य । अहंकारादेः सर्वस्यात्मत्वेनैव स्फुरणादहंममाभिमानरहितः त्वं सुखी भव ॥ ६ ॥

००००००००००००००००००००००००००००००

४६७ सर्वभूतानि चात्मनीत्येतद्विशदयति—

४६८

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे ॥
तत्त्वमेव न संदेहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव ॥ ७ ॥

४६८] यत्र इदं विश्वं सागरे तरंगाः इव स्फुरति । तत् त्वं एव । न संदेहः । चिन्मूर्ते विज्वरः भव ॥

४६९) यत्रेदं विश्वं । सागरे तरंगा इव

ना[illegible] तत् चैतन्यं । त्वमेव । अतः

कारणात् हे चिन्मूर्ते। त्वं विज्वरो भव चिन्मात्रोऽहमित्यनुभवान्निवृत्तसर्वसंतापो भवेत्यर्थः ॥७॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

४७० परमकारुणिकतया पुनः पुनर्बोधयति—

श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः॥
ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः॥८॥

४७१] तात श्रद्धत्स्व श्रद्धत्स्व। भोः अत्र मोहं न कुरुष्व ॥

४७२) श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व । अत्र चिद्रूपतायामसंभावनाविपरीतभावनारूपं मोहं मौढ्यमविवेकं मा कुरुष्व मा कार्षीरित्यर्थः ॥

४७३ मा कुरुष्व अत्रेत्युक्तं विशदयति—

४७४] ज्ञानस्वरूपः प्रकृतेः परः त्वं भगवान् आत्मा ॥

४७५) ज्ञानस्वरूपः प्रकृतेः परस्त्वं। कीदृशस्त्वं। भगवान् तत्पदार्थः। तथा आत्मा त्वं पदार्थः ॥ ८ ॥

४७६
गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च ॥
आत्मा न गंता नागंता किमेनमनुशोचसि ॥९॥

४७६] गुणैः संवेष्टितः देहः तिष्ठति आयाति याति च । आत्मा न गंता न आगंता । एनं किं अनुशोचसि॥

४७७) गुणैः इंद्रियादिभिः । संवेष्टितो देहः । इह लोके तिष्ठति । तथा किंचित्कालं आयाति तथा किंचित्कालं याति च गच्छति । देहादिभिन्न आत्मा तु न गंता । न अपि आ-गंता । अतोऽहं गंताऽहं मरिष्यामीत्येवं एनं किं शोचसि । देहधर्मैरात्मानं मा शुचेत्यर्थः ॥ ९ ॥

४७८ नापि देहस्थित्युत्क्रांतिभ्यां तव वृद्धि-हानिरित्याह—

४७९
देहस्तिष्ठतु कल्पांतं गच्छत्वद्यैव वा पुनः ॥
क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः १०

४७९] देहः कल्पांतं तिष्ठतु वा पुनः अद्य एव गच्छतु ।

चिन्मात्ररूपिणः तव क्व वृद्धिः क्व वा हानिः ॥

४८०) नित्य-चिन्मात्ररूपिणः तव देह-स्थित्या न वृद्धिः । न वा देहनिवृत्त्या हानिः इत्यर्थः ॥ १० ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

त्वय्यनंतमहांभोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः ॥
उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः॥११॥

४८१] विश्ववीचिः स्वभावतः त्वयि अनंतमहांभोधौ उदेतु वा अस्तं आयातु । ते वृद्धिः न । वा क्षतिः न ॥

४८२) विश्वाख्या वीचिः अपि स्वभावतः अविद्याज्ञानरूपतः । त्वयि अनंतचित्समुद्रे । उदेतु उदयं वा अस्तमायातु पुनरपि । ते तव । न वृद्धिः न वा क्षतिः । तवानंदत्वा-दित्यर्थः ॥ ११ ॥

४८३ तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत्॥
अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना॥१२॥

४८३] तात चिन्मात्ररूपः असि । इदं जगत् ते भिन्नं न । अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥

४८४) सर्वस्य त्वदभिन्नत्वात् किं हेयमुपादेयं कथं केन वा प्रकारेण हेयमुपादेयं । कुत्र वा हेयमुपादेयमित्यर्थः ॥ १२ ॥

---

४८५ एकस्मिन्नव्यये शांते चिदाकाशेऽमले त्वयि ॥
कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहंकार एव च॥१३॥

४८५] एकस्मिन् अव्यये शांते चिदाकाशे अमले त्वयि जन्म कुतः च कर्म कुतः अहंकारः कुतः एव ॥

४८६) एकस्मिन् सजातीयविजातीयस्वगत-भेदशून्ये । अव्यये विनाशरहिते । शांते कार्य-

शून्ये । चिदाकाशे निर्मले च सर्वोपाधिशून्ये च । त्वयि । कुतो जन्म । कुतः च कर्म । कुतश्चाहंकारः । द्वितीयस्य हेतोरभावात् । अव्ययस्य जन्मासंभवात् । कार्यशून्यस्य च कर्मकर्तृत्वासंभवान्निर्मलस्य चाहंकारासंभवादित्यर्थः ॥ १३ ॥

---

४८७ एकत्वमुपपादयति—

४८८
यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे ॥
किं पृथक् भासते स्वर्णात्कटकांगदनूपुरम् १४

४८८] यत् त्वं पश्यसि तत्र एकः त्वं एव प्रतिभाससे । कटकांगदनूपुरं किं स्वर्णात् पृथक् भासते ॥

४८९) यत् यत् कार्यं त्वं पश्यसि तत्र कारणरूपः त्वमेव एकः प्रतिभाससे । कटकांगदादौ स्वर्णवदित्यर्थः ॥ १४ ॥

४९०
अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति संत्यज ॥
सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसंकल्पः सुखी भव १५

४९०] अयं सः अहं अयं अहं न इति विभागं संत्यज । सर्वं आत्मा इति निश्चित्य निःसंकल्पः सुखी भव॥

४९१) " कारणरूप आत्मा एव सर्वं" इति निश्चित्य । भेदभ्रमं संत्यज । तथा च निर्विकल्पो विगतनानाप्रतिभासः सन् सुखी भव द्वितीयप्रतिभानाद्धि दुःखं भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

४९२ विभागत्यागे युक्तिमाह—

४९३
तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः ॥
त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन

४९३] तव एव अज्ञानतः विश्वं । परमार्थतः त्वं एकः । त्वत्तः अन्यः कश्चन संसारी न च असंसारी न अस्ति ॥

४९४) तवैवाज्ञानतो विश्वं विश्वाकारविक्षेपः । अतः परमार्थतः त्वमेकः । अतः संसारी असंसारी च त्वत्तो न अन्यः कश्चिदित्यर्थः १६

४९५
भ्रांतिमात्रमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी॥
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिव शाम्यति

४९५] इदं विश्वं भ्रांतिमात्रं किंचित् न इति निश्चयी निर्वासनः स्फूर्तिमात्रः किंचित् न इव शाम्यति ॥

४९६) इदं विश्वं भ्रांतिमात्रसिद्धं । अतो हेतोः न किंचित् पृथक्सत्तारहितमित्यर्थः । इति निश्चयी । अत एव सर्वस्य निरस्तत्वात् निर्वासनो वासनारहितः । स्फूर्तिमात्रः सन् न किंचिदिव निरस्ताशेषविशेषः सन् शाम्यति॥ १७

०००००००००००००००००००००००००००००००

४९७
एक एव भवांभोधावासीदस्ति भविष्यति ॥
न ते बंधोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यः सुखं चर १८

४९७] भवांभोधौ एकः एव आसीत् अस्ति भविष्यति ते बंधः अस्ति न वा मोक्षः कृतकृत्यः सुखं चर॥

४९८) कालत्रयेऽपि भवांभोधौ एकः त्वं एव । अतस्तव बंधमोक्षौ न स्तः । अतस्त्वं कृतकृत्यः सन् सुखं चर ॥ १८ ॥

४९९
मा संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय॥
उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानंदविग्रहे॥१९॥

४९९] चिन्मय संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं मा क्षोभय उपशाम्य स्वात्मनि आनंदविग्रहे सुखं तिष्ठ ॥

५००) हे चिन्मय । त्वं संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं मा क्षोभय । उपशाम्य उपरतसंकल्पविकल्पो भव । आनंदरूपे स्वात्मनि सुखं तिष्ठ ॥ १९ ॥

---

५०१ ध्यानमपि त्यजेत्याह—

५०२ ५०५
त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचिद्धृदि धारय ॥
५०७
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि॥

५०२] सर्वत्र ध्यानं त्यज एव ॥

५०३) सर्वत्र ध्यानं त्यज कुत्रापि ध्यानं मा कार्षीरित्यर्थः ॥

५०४ एतदेव विशदयति—

५०५] किंचित् हृदि धारय ना ॥

५०६ मननमपि त्यजेत्याह—

५०७] आत्मा त्वं मुक्तः एव असि विमृश्य किं करिष्यसि ॥

५०८) आत्मा त्वं सदा मुक्त एवासि। अतो विमृश्य विचार्य। किं फलं करिष्यसि नित्यमुक्तत्वादित्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्रीनद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतायां तत्त्वोपदेशविंशतिकं नाम पञ्चदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १५ ॥

॥ अथ विशेषोपदेशकं नाम षोडशं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ १६ ॥

पृथक्सत्वेन सर्वस्य विस्मृतिर्मुक्तिसाधनम् ॥
तृष्णाद्यनर्थविच्छेदद्वारेणेत्यत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

५०९ तत्त्वज्ञानेनं सर्वप्रपंचस्य पृथक्सत्तया विस्मरणकारणैस्तव तृष्णापायादिद्वारा मुक्तिर्नान्यथेति विशेषमुपदिशति—

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः॥
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥१॥

५१०] तात नानाशास्त्राणि अनेकशः आचक्ष्व वा शृणु। तथा अपि तव सर्वविस्मरणात् ऋते स्वास्थ्यं न॥

५११) हे तात त्वं नानाशास्त्राणि। अनेकशः अनेकवारं। शिष्येभ्यः आचक्ष्व गुरुभ्यः शृणु वा। तथापि तव सर्वविस्मरणादृते स्वास्थ्यं श्रेयो। नास्तीत्यर्थः॥ ननु सुषुप्तौ सर्वविस्मरणं सर्वेषां विद्यत एव। तेन सर्वेषां मोक्षः स्यादिति व्यर्थं सर्वविस्मरणमिति चेत्॥ सत्यं। सुषुप्तौ तु यद्यपि विषयविस्मरणमस्ति।

तथापि अज्ञानविस्मरणं नास्तीति सर्वविस्मरणा-भावात् । जीवन्मुक्तस्य तु अज्ञानादेः सर्वस्याध्य-स्तानानुसंधानरूपं विस्मरणमस्तीति भावः ॥ १ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

५१२ सर्वविस्मरणे सति सर्वस्वरूपं वीक्ष्य चित्तं निरस्तसर्वाशं भवतीति सूचयन्नाह—

५१३ भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते ॥
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति॥ २ ॥

५१३] विज्ञ भोगं वा कर्म समाधिं कुरु । तथा अपि ते चित्तं निरस्तसर्वाशं अत्यर्थं रोचयिष्यति ॥

५१४) हे विज्ञ त्वं भोगं कुरु कर्म वा कुरु समाधिं वा कुरु । तथापि चित्तमत्यर्थं रोचयिष्यति स्वरूपे रुचिमुत्पादयिष्यति । कीदृशं चित्तं । निरस्तसर्वाशं सर्वविस्मरणे सति सर्वाशानुदयादित्यर्थः ॥ २ ॥

५१५ सर्वतृष्णाविलये सति तु कृतेनापि कर्मणा दुःखहेतुरायासो न भवतीति सूचयन्नाह—

५१६ आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन ॥
५१८ अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम् ॥३॥

५१६] सकलः आयासात् दुःखी कश्चन एनं जानाति न ॥

५१७) सकलो जनः आयासात् एव दुःखी भवति । परंतु कश्चन एनं आयासं । न जानाति दुःखहेतुरयमिति न वेत्ति ॥

५१८] अनेन एव उपदेशेन धन्यः निर्वृतिं प्राप्नोति॥

५१९) आयासात्सकलो दुःखीति अनेनैवोपदेशेन धन्यः सुकृती । निर्वृतिं परमसुखं । प्राप्नोति ॥ ३ ॥

---

५२० व्यापारानासक्तिः सुखहेतुरित्याह—

५२१ व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि ॥
तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित् ॥४

५२१] यः निमेषोन्मेषयोः अपि व्यापारे खिद्यते तस्य आलस्यधुरीणस्य तु सुखं न अन्यस्य कस्यचित् ॥

५२२) यो निमेषोन्मेषयोरपि व्यापारे खिद्यते अनासक्तो भवति । तस्यालस्यधुरीणस्य क्रियाभिनिवेशरहितस्य । सुखं । नान्यस्य क्रियाभिनिवेशयुक्तस्य ॥ ४ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooooooo

५२३ सर्वतृष्णाविलये सति द्वंद्वहानिरपि भवतीति सूचयन्नाह—

५२४
इदं कृतमिदं नेति द्वंद्वैर्मुक्तं यदा मनः ॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत् ॥ ५ ॥

५२४] इदं कृतं इदं न इति द्वंद्वैः मुक्तं यदा मनः तदा धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं भवेत् ॥

५२५) इदं कृतमिदं न इति-आदि द्वंद्वैर्मुक्तं यदा मनो भवति । तदा पुरुषार्थचतुष्टयेऽपि निरपेक्षं भवेत् । द्वंद्वातीतस्य जीवन्मुक्तत्वादित्यर्थः ॥ ५ ॥

५२६ पुरुषार्थकामनानिरपेक्षस्तु विरक्तकामुकाभ्यां विलक्षण इत्याह—

५२७
विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः ॥
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान्॥६॥

५२७] विषयद्वेष्टा विरक्तः विषयलोलुपः रागी ग्रहमोक्षविहीनः तु विरक्तः न रागवान् न ॥

५२८) मुमुक्षुः सन् यो विषयद्वेष्टा स विरक्तः कथ्यते । कामनासापेक्षः सन् यो विषयलोलुपः स रागी इति कथ्यते । यस्तु ग्रहमोक्षविहीनः ग्रहमोक्षेच्छाभ्यां विहीनः । स विरक्तसुरक्ताभ्यां विलक्षणः सर्वतो निरपेक्षतया हानोपादानेच्छारहितत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

---

५२९ ननु ज्ञानिनोऽपि हानोपादानादिव्यवहारो दृश्यते इत्यत्राह—

५३०
हेयोपादेयता तावत्संसारविटपांकुरः ॥
स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचारदशास्पदम्॥७॥

५३०] निर्विचारदशास्पदं स्पृहा यावत् जीवति तावत् हेयोपादेयता संसारविटपांकुरः च ॥

५३१) निर्विचारदशास्पदं अविवेकदशास्पदीभूता । स्पृहा तृष्णा । यावत् जीवति । तावत् पर्यंतमेव हेयोपादेयता हेयोपादानादिव्यवहारः । संसार-वृक्षस्य शाखा-अंकुरो भवति। ज्ञानिनां तु स्पृहाभावे सत्यपि हानोपादानादिव्यवहारे संसारशाखाप्रसरो न भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

५३२ प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि ॥
निर्द्वंद्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः ॥८॥

५३२] प्रवृत्तौ रागः निवृत्तौ द्वेषः एव हि जायते धीमान् बालवत् निर्द्वंद्वः एवम् एव व्यवस्थितः ॥

५३३) प्रवृत्तौ सरागप्रवृत्तौ सत्यामुत्तरोत्तरं विषयेषु रागो जायते । विषयेऽपि द्वेषपूर्वक-निवृत्तौ सत्यामुत्तरोत्तरं विषयेषु द्वेष एव हि जायते । अतो धीमान् ज्ञानी । बालवत् शुभाशु-

भानुसंधानरहितः । निर्द्वन्द्वः रागद्वेषविहीनः सन् एव । रागजनितप्रवृत्तिद्वेषजनिवृत्तिरहित एव स्थितः । केवलं प्रारब्धवशादेव कदाचित्प्रवर्त्तते कदाचिन्निवर्त्तते च । न तु रागद्वेषवशादित्यर्थः॥८

[५३४] हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया ॥
वीतरागो नि हिर्दुःखस्तस्मिन्नपि न खिद्यति॥९

५३४] रागी दुःखजिहासया संसारं हातुम् इच्छति। वीतरागः निर्दुःखः तस्मिन् अपि न खिद्यति हि ॥

५३५) यस्तु रागी स दुःखजिहासया संसारं हातुमिच्छति। वीतरागः तु निर्दुःखः रागोत्थदुःखरहितत्वात्तस्मिन् संसारे सति अपि न खिद्यति खेदं न प्राप्नोति ॥ ९ ॥

---

[५३६] यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा ॥
न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ१०

५३६] यस्य मोक्षे अपि अभिमानः तथा च देहे अपि ममता न योगी न वा ज्ञानी केवलं असौ दुःखभाक् ॥

५३७) अहं ज्ञानी त्रिकालवृत्तांतदर्शी मुक्त इत्येवं यस्य मोक्षेऽपि अभिमानो नासौ ज्ञानी । तथा च । अहं योगाभ्यासी देहस्यैव गुणकर्मधर्मरतः । मम देहो वहारोपवासादिसमर्थ इत्येवं देहेऽपि अभिमानो न असौ योगी । न वा ज्ञानी । केवलं असौ दुःखभाक् दुःखहेत्वहंममाभिमानानिवृत्तेरित्यर्थः ॥ १० ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

५३८ सर्वविस्मरणोपदेशमुपसंहरति—

५३९
हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा ॥
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥११

५३९] ते यदि हरः उपदेष्टा वा हरिः कमलजः अपि तथा अपि तव सर्वविस्मरणात् ऋते स्वास्थ्यं न ॥

५४०) स्पष्टम् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतायां विशेषोपदेशकं नाम षोडशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १६ ॥

॥ अथ तत्त्वज्ञस्वरूपविंशतिकं नाम सप्तदशं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥१७॥

अथातः श्लोकविंशत्या तत्त्वज्ञस्य दशोच्यते ॥
विद्यातज्ज्ञप्रकर्षस्य व्यक्तये गुरुणा स्फुटम् ॥ १ ॥

५४१ अथान्येषामपि विद्यायां प्रवृत्त्यर्थं तत्त्वज्ञानफलं व्याख्यातुमिच्छया तत्त्वज्ञदशां गुरुर्निरूपयति—

५४२
तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा ॥
तृप्तः स्वच्छेंद्रियो नित्यमेकाकी रमते तु यः॥१॥

५४२] तेन ज्ञानफलं प्राप्तं तथा योगाभ्यासफलं यः तृप्तः स्वच्छेंद्रियः एकाकी नित्यं तु रमते ॥

५४३) तेन एव ज्ञानफलं प्राप्तं । य आत्मन्येव तृप्तो न भोगादिना । अत एव स्वच्छेंद्रियो विषयानासक्तेंद्रियः सन् एकाकी विषयसंयोगं विनैव । नित्यं आत्मन्येव रमते ॥ १ ॥

५४४
न कदाचिज्जगत्यस्मिन् तत्त्वज्ञो हंत खिद्यति ।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्मांडमंडलम् ॥ २ ॥

५४४] हंत अस्मिन् जगति कदाचित् तत्त्वज्ञः न खिद्यति यतः एकेन तेन इदं ब्रह्मांडमंडलं पूर्णम् ॥

५४५ हंत इति सहर्षसंबोधने । हे शिष्य । अस्मिन् जगति कदाचित् अपि तत्त्वज्ञो न खिद्यते । यत एकेन एव तेनेदं ब्रह्मांडमंडलं पूर्णं व्याप्तम् । अतो द्वितीयस्याभावान्न खिद्यतीत्यर्थः॥२॥

५४६
न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयंत्यमी ।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निंबपल्लवाः ॥ ३ ॥

५४६] स्वारामं जातु अमी विषयाः के अपि हर्षयंति न सल्लकीपल्लवप्रीतं इव इभं निंबपल्लवाः ॥

५४७) स्वस्मिन्नात्मन्येव आरमते तं स्वारामं। जातु कदाचित् अमी विषयाः न हर्षयंति तुच्छत्वात् पृथक्सत्तामप्राप्यैव रमते तं स्वारामं जातु कदाचिदमी विषया न हर्षयंति इंद्रिय-

रहितत्वात् । यथा सल्लकीपल्लवप्रीतं । इभं गजं । निंबपल्लवा न हर्षयंति कटुकत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

oooooooooooooooooooooooooooooooo

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासिता ।
अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशो भवदुर्लभः॥४॥

५४८] यः तु भुक्तेषु भोगेषु अधिवासिता न भवति अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशः भवदुर्लभः ॥

५४९) यस्य तु भुक्तेषु भोगेषु आसक्तिर्न भवति । अभुक्तेषु आकांक्षा न भवति आत्मतृप्तत्वात् । तादृशो भवदुर्लभः संसारसागरे कोटिष्वेक इत्यर्थः ॥ ४ ॥

oooooooooooooooooooooooooooooooo

बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते ।
भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः॥५॥

५५०] इह संसारे बुभुक्षुः मुमुक्षुः अपि दृश्यते भोगमोक्षनिराकांक्षी महाशयः विरलः हि ॥

१) संसारे बुभुक्षुर्मुमुक्षुः चानेकधा

दृश्यते । भोगमोक्षनिराकांक्षी महति पूर्णे ब्रह्मणि आशयोऽन्तःकरणं यस्य स महाशयो विरलः । " यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः " इति भगवद्वचनात् ॥ ५ ॥

५५२

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा ।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि ॥६॥

५५२] धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते तथा मरणे कस्य अपि उदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि

५५३) पुरुषार्थचतुष्टये । तथा जीवितमरणयोर्यथायोग्यं हेयोपादेयतारहितो विरल इत्यर्थः॥६॥

५५४

वांछा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थिता।
यथा जीविकया तस्माद्धन्य आस्ते यथासुखम् ७

५५४] विश्वविलये वांछा न तस्य स्थितौ च द्वेषः न । तस्मात् धन्यः यथा जीविकया यथासुखं आस्ते ॥

५५५) यस्मात् ज्ञानिनो विश्वविलये प्रपंचोप-

रमे । वांछा न अस्ति । तस्य प्रपंचस्य स्थितौ च द्वेषः न अस्ति । अधिष्ठानत्वेनैव ब्रह्मरूपात्मस्फुरणात् । तस्मात् कारणात् । धन्यो यो विद्वानारब्धवशात् प्राप्तया यथा प्राप्तया । जीविकया सुखं अनतिक्रम्यैव आस्ते । इत्यर्थः ॥ ७ ॥

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती ॥
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखं

५५६] अनेन ज्ञानेन कृतार्थः इति एवं गलितधीः कृती पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् यथासुखं आस्ते ॥

५५७) अहं अनेन अद्वैतात्मज्ञानेन। कृतार्थः इत्येवं गलितधीः कृती भक्षणादिकं कुर्वन्नपि । सुखं अनतिक्रम्य आस्ते। कृतार्थत्वधियः सत्वाद्बहिरिंद्रियव्यापारे सत्यपि अज्ञानिन इव विरक्तस्य तस्य खेदो न भवति । "उपविष्टो व्रजन् तिष्ठन् तन्मयः स्यात्समाहित" इति -वचनात् । न भवतीत्यर्थः॥८॥

शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानींद्रियाणि च ।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे॥९॥

५५८] क्षीणसंसारसागरे स्पृहा न वा विरक्तिः न । दृष्टिः शून्या चेष्टा वृथा इंद्रियाणि विकलानि च ॥

५५९) क्षीणः संसारसागरो यस्य सः तस्मिन् क्षीणसंसारसागरे पुरुषे । स्पृहा विषयेच्छापि । न । विरक्तिः च न ॥ अतः तस्य मनःकायेंद्रियव्यापारो बालोन्मत्तादिवदित्याह ॥ शून्येति ॥ तस्य दृष्टिर्मनोव्यापारः शून्या संकल्पविकल्परहितः। चेष्टा कायव्यापारः । वृथा फलमनुद्दिश्यैव। तस्य इंद्रियाणि विकलानि पुरःस्थितानामपि विषयाणामनिर्णायकत्वात् । तदुक्तं भगवद्गीतायां " यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः" इति ॥ ९ ॥

५६० ५६३
न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति।
५६६
अहो परदशा कापि वर्त्तते मुक्तचेतसः॥१०॥

५६०] न जागर्ति न निद्राति ॥

५६१) ज्ञानी न जागर्ति जाग्रदवस्थावान्न भवति ॥

५६२ अत्र बहिर्विषयाननुसंधानादिति हेतुमाह—

५६३] न उन्मीलति न मीलति ॥

५६४) बाह्यविषयान्नानुसंधत्ते इत्यर्थः। तथा ज्ञानी न निद्राति यतः न निमीलति जडोन्मत्तवत्। सर्वान् विषयान् ब्रह्मत्वेन पश्यतीत्यर्थः॥

५६५ का तर्हि तस्य दशेत्यत आह—

५६६] अहो मुक्तचेतसः क्व अपि परदशा वर्त्तते ॥

५६७) अहो इति आश्चर्ये। मुक्तचेतसः क्वापि अलौकिकी परदशा उत्कृष्टावस्था। 'तुरीयातीतेत्यर्थः ॥ १० ॥

५६८ इदमेव विशदयति—

५६९
सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः ।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते॥११॥

५६९] सर्वत्र स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः दृश्यते समस्तवासनामुक्तः मुक्तः सर्वत्र राजते ॥

५७०) सर्वत्र सुखे दुःखे च । स्वस्थः स्वस्थचित्तः । तथा सर्वत्र एव शत्रौ मित्रे च । विमलाशयः समानदर्शी । यतः समस्त-विषय-वासनाभ्यो मुक्तः । अत एव मुक्तः सर्वत्र सर्वासु दशासु । राजते दीप्यते पूर्णात्मदर्शित्वात् ॥ ११ ॥

५७१
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गृह्णन्वदन्व्रजन्
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः॥१२॥

५७१] पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गृह्णन् वदन् व्रजन् ईहितानीहितैः मुक्तः महाशयः मुक्तः एव ॥

५७२) प्रारब्धवशाद्दर्शनादिकं बहिरिंद्रियव्या-पारं कुर्वन्नपि ईहितानीहितैः इच्छाद्वेषैः । मुक्तो

महाशयो महति आत्मनि आशयो यस्य स महाशयः । मुक्त एव मनोविकारातीतत्वात्॥ १२॥

५७३ इदमेव विशदयति—

५,७४
न निंदति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति ।
न ददाति न गृह्णाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः॥१३

५७४] निंदति न स्तौति न हृष्यति न कुप्यति न ददाति न गृह्णाति न च सर्वत्र नीरसः मुक्तः ॥

५७५) स्पष्टं । न स्तौति । न हर्षं प्राप्नोति । न केषु कोपं करोतीत्यर्थः । कस्मैचित् न गृह्णाति । सर्वत्र नीरसः मुक्त इत्यर्थः ॥१३॥

५७६ किंच—

५,७७
सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितम् ।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः॥१४

५७७] सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा वा समुपस्थितं मृत्युं अविह्वलमनाः स्वस्थः महाशयः मुक्तः एव ॥

५७८) सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा अथ वा समुपस्थितं मृत्युं दृष्ट्वा अविह्वलमनाः कामभयाभ्यां विमुक्तमनाः। महाशयो मुक्त एव ॥१४॥

५७९ किंच—

५८०
सुखे दुःखे नरे नार्यां संपत्सु च विपत्सु च।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः॥१५॥

५८०] सुखे दुःखे नरे नार्यां च संपत्सु च विपत्सु सर्वत्र विशेषः धीरस्य समदर्शिनः न एव ॥

५८१) स्पष्टम् ॥ १५ ॥

५८२
न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणेऽनरे॥१६॥

५८२] क्षीणसंसरणे अनरे हिंसा न कारुण्यं न एव औद्धत्यं न दीनता न आश्चर्यं न क्षोभः न एव ॥

५८३) क्षीणसंसरणे अनरे नराभिमानरहिते विदुषि। हिंसा नाम परद्रोह इत्यादयो मनोविकारा न भवंतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

५८४
न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः ।
असंसक्तमना नित्यं प्राप्तप्राप्तमुपाश्नुते ॥१७॥

५८४] मुक्तः विषयद्वेष्टा न । वा विषयलोलुपः न । असंसक्तमनाः नित्यं प्राप्तप्राप्तं उपाश्नुते ॥

५८५) जीवन्मुक्तः विषयद्वेष्टा अपि न । न वा विषयलोलुपः । किं तर्हि । असंसक्तमनाः सन् प्रारब्धवशात् प्राप्तप्राप्तमुपाश्नुते भुंक्ते इत्यर्थः ॥ १७ ॥

५८६
समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः ।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः ॥

५८६] शून्यचित्तः समाधानासमाधानहिताहितवि- कल्पनाः न जानाति कैवल्यं इव संस्थितः ॥

५८७) वहिः शून्यचित्तो ज्ञानी । समाधा-
नादिविविधाः कल्पना न जानाति । उत्प्रेक्षते ।
विदेहकैवल्यं प्राप्त इव ॥ १८ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooo

५८८

निर्ममो निरहंकारो न किंचिदिति निश्चितः।
अंतर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि करोति न॥१९॥

५८८] निर्ममः निरहंकारः किंचित् न इति निश्चित
अंतर्गलितसर्वाशः कुर्वन् अपि न करोति ॥

५८९) अहंममाभिमानशून्यतयाधिष्ठान
रिक्तं "किंचित् न सत्" इति [illegible]
अत एव । अंतर्गलितसर्वाशः । अत
कुर्वन्नपि न करोति । कर्तृत्व [illegible] नर
इत्यर्थः ॥ १९ ॥

मनःप्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः ।
दशां कामपि संप्राप्तो भवेद्गलितमानसः ॥२०॥

५९०] गलितमानसः कां दशां अपि संप्राप्तः भवेत् मनःप्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः ॥

५९१) गलितं सविशेषवृत्तिहीनं मानसं यस्य स ज्ञानी । कामपि अनिर्वाच्यां। दशां। संप्राप्तो भवेत् ॥ तदेव दर्शयति मनःप्रकाश-विवर्जितः॥ सविशेषप्रकाशाभावात् । तथा संमोह-वर्जितः प्रत्यक् प्रवणचित्तत्वात् । अत एव स्वप्न-वर्जितः जाड्येन सुषुप्त्या च । विवर्जित इत्यर्थः ॥२०॥

॥ इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतायां तत्त्वज्ञस्वरूपविंशतिकं नाम सप्तदशकं प्रकरणं समाप्तम्॥१७॥

॥ अथ शांतिशतकं नाम ॥
अष्टादशं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ १८ ॥

तत्त्वाभिज्ञे फलीभूतसमस्यैव प्रधानताम् ।
व्याख्यातुं वर्ण्यते शांतिः शतश्लोकैः पुनः स्फुटम्॥

५९२ तत्र तावच्छांतेः प्रधानतेति ख्याप-यितुं । फलीभूतां शांतिं वर्णयितुकामः शांति-शालिनं नमस्करोति—

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भवति भ्रमः ॥
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शांताय तेजसे ॥१॥

५९३] बोधोदये तावत् भ्रमः स्वप्नवत् यस्य भवति तस्मै शांताय सुखैकरूपाय तेजसे नमः ॥

५९४) बोधोदये सति । तावत् तत्क्षण-मेव । प्रपंच-भ्रमः । स्वप्नवत् तुच्छो । यस्य ज्ञातो भवति । तस्मै शांताय निवृत्तसंकल्प-विकल्पाय । अत एव सुखैकरूपाय दुःखाननु-विद्धसुखस्वभावाय । अत एव तेजसे स्वप्रकाशाय । विदुषे नमः ॥ १ ॥

५९५ ननु धनिनोऽपि सुखिनो दृश्यंते । तत्कथं शांतसंकल्प एव सुखैकरूप इत्याशंक्याह—

५९६
अर्जयित्वाखिलानर्थान् भोगानाप्नोति पु-ष्कलान् ।
न हि सर्वपरित्यागमंतरेण सुखी भवेत् ॥ २ ॥

५९६] अखिलान् अर्थान् अर्जयित्वा पुष्कलान् भोगान् आप्नोति सर्वपरित्यागं अंतरेण सुखी भवेत् न हि ॥

५९७) अखिलानर्थान् धनधान्यकांतादीन् । अर्जयित्वा । पुष्कलान् बहुविधान् भोगान् एव आप्नोति । न तु सुखैकरूपः स्यात् तत्क्षये दुःखभागित्वात् । सर्वपरित्यागमंतरेण सर्वसंकल्पविकल्पत्यागं विना । सुखैकरूपो न हि भवति । नैव स्यात् ॥ २ ॥

५९८ संकल्पविकल्पयोस्तुच्छत्वज्ञानमेव त्यागमात्रस्य तथात्वात । यथा वंध्यापत्रे तुच्छत्वज्ञान-

मेव त्यागः असतः त्यागासंभवात् । इदमेव रूपकालंकारेण विशदयति—

५९९
कर्त्तव्यदुःखमार्तंडज्वालादग्धांतरात्मनः ।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम् ॥ ३ ॥

५९९] कर्त्तव्यदुःखमार्तंडज्वालादग्धांतरात्मनः प्रशमपीयूषधारासारं ऋते सुखं कुतः ॥

६००) कर्त्तव्यानि यानि कर्माणि । तज्जनितानि दुःखान्येव मार्तंडज्वाला खरतरसूर्यतापस्तेन दग्धः अंतरात्मा मनो यस्य तस्य संकल्पविकल्पप्रशमामृतधारालक्षणमासारं विना सुखं कुतः स्यात् ॥ ३ ॥

६०१ संकल्पविकल्पप्रशमस्यामृतत्वं संसाररूपविषनिवर्त्तकत्वादित्याशयेनाह—

६०२
भवोऽयं भावनामात्रो न किंचित्परमार्थतः ।
६०५
नास्त्यभावःस्वभावानां भावाभावविभाविनां४

६०२] अयं भवः भावनामात्रः परमार्थतः किंचित् न ॥

६०३) अयं भवः भावनामात्रः संकल्पमात्रप्रभवः। परमार्थतः आत्मव्यतिरिक्तं किंचित् न अस्ति। परमार्थतस्तु आत्मैव भावरूपः। न तु अभावरूपः ॥

६०४ नन्वभावरूपोऽपि प्रपंचः कालादिवशाद्भावस्वभाव इत्याशंक्याह—

६०५] भावाभावविभाविनां स्वभावानां अभावः न अस्ति ॥

६०६) भावाभावेषु विभाविनां स्थितानां। स्वभावानां अभावो नास्ति। नहि उष्णस्वभावो वह्निः कदाचिदपि शीतलस्वभावो दृष्टः। तथा च मनोराज्यवद्भावनामात्रसिद्धः सत्स्वभावः प्रपंचो भावनानिवृत्तौ निवर्त्तेत इति संकल्पप्रशमसंसारविषतापापगमादात्मामृतप्राप्तिहेतुत्वादमृतमिति भावः ॥ ४ ॥

६०७ ननु संकल्पोपशमनमात्रेण कथमात्मप्राप्तिरित्याशंक्य । तस्य नित्यप्राप्तत्वमाह—

६०८
न दूरं न च संकोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम् ।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरंजनम् ५

६०८] आत्मनः पदं दूरं न । संकोचात् च न । लब्धं एव निरायासं निर्विकल्पं निर्विकारं निरंजनं ॥

६०९) आत्मनः पदं स्वरूपं । दूरं न अस्ति । न अपि संकोचात् वर्तते परिच्छिन्नं नास्ति । परिपूर्णत्वात् ॥ अत एवात्मनः पदं नित्यलब्धं प्राप्तमेवास्ति । संकल्पवशात् पुनरप्राप्तमिवाविद्वांसो मन्यंते । कंठगतचामीकरवत् ॥ कीदृशं पदं । निर्विकल्पं विकल्पातीतं विकल्पानवगम्यं वा । तथा । निरायासं आयासातीतं तदनवगम्यं वा । निर्विकारं विकारातीतं । निरंजनं उपाधिमलशून्यम् ॥ ५ ॥

६१० कथं तर्हि तत्त्वज्ञानेन तत्प्राप्तिव्यवहारः शास्त्रकारणमित्याशंक्य भ्रांतिनाशमात्रादेवेत्याह—

६११ व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः ।
वीतशोका विराजंते निरावरणदृष्टयः ॥ ६ ॥

६११] निरावरणदृष्टयः व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः वीतशोकाः विराजंते ॥

६१२) ज्ञानेन निरावरणदृष्टयः अविद्यानावृतदृष्टयः । व्यामोहमात्रस्य प्रपंचभ्रांतिमात्रस्य । विरतौ सत्यां । स्वरूपादानमात्रतः आत्मविश्रांतिमात्रतो । वीतशोका विराजंते सर्वदा स्वभावेनैव पूर्णाद्वितीयतया प्रकाशंत इत्यर्थः ॥६॥

६१३ आत्मज्ञानरहस्यमाह—

६१४ समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः ।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत् ७

६१४] समस्तं कल्पनामात्रं । आत्मा मुक्तः सनातनः । इति विज्ञाय धीरः हि किं अभ्यस्यति बालवत् ॥

६१५) स्पष्टार्थमिदम् ॥ ७ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooo

६१६ समस्तकल्पनामात्रमिति ज्ञानस्य निदानभूततत्त्वंपदार्थैक्यज्ञानमाह–

६१७ आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किं ८

६१७] आत्मा ब्रह्म च भावाभावौ कल्पितौ इति निश्चित्य निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते किं च करोति ॥

६१८) आत्मा त्वंपदार्थः । ब्रह्म तत्पदार्थाभिन्न इति निश्चित्य अधिष्ठानसाक्षात्काराच्च भावाभावौ घटादिः तदभावः च कल्पितौ इति निश्चित्य । तथा च सर्वस्य तुच्छत्वानुसंधानात् कामहेत्वविद्याविलयाच्च । निष्कामः सन् । किं विशिष्टतया । जानाति । किं ब्रूते । किं च कार्यं । करोति । कर्तृत्वाभिमानरहितत्वात् ज्ञातापि न वक्तापि न क्रियाकर्तापि नेत्यर्थः ॥८॥

६१९ सर्वमात्मेति ज्ञानं सर्वकल्पनानिवर्तक-मित्याह—

६२०

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः ।
सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णींभूतस्य योगिनः ९

६२०] सर्वं आत्मा इति निश्चित्य तूष्णींभूतस्य योगिनः अयं सः अहं अयं अहं न इति विकल्पनाः क्षीणाः ॥

६२१) सर्वमात्मेति निश्चित्य अनुभूय । तूष्णींभूतस्य निवृत्तपराग्व्यापारस्य । योगिनः श्लो० "वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं पर-मात्मनि । एकीकृत्य विमुच्येत मुख्योऽयं योग उच्यते ॥" इति योगलक्षणं — नोक्तं । इति विविधाः कल्पनाः क्षीणा भुक्तः । इतीति किं । अहं करोमि य एवाहं पूर्वदिने यातमकरवं । सोऽहं यजामि । अयं देवदत्तो गच्छति । नाहं गमि-ष्यामीत्यादयः कल्पनाः क्षीणा भवंतीत्यर्थः ॥९॥

१२२ निरुपाधिकत्वस्य स्वरूपमाह । उपशां–

१००
न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता ।
न सुखं न च वा दुःखमुपशांतस्य योगिनः॥१००

१२३] उपशांतस्य योगिनः विक्षेपः न च एकाग्र्यं न अतिबोधः न मूढता न सुखं न वा दुःखं न च ॥

१२४) उपशांतनिर्विकल्पस्य योगिनः । विक्षेपो व्यग्रता । न । एकाग्र्यादिकमपि नेत्यर्थः ॥ १००॥

१०१
स्वाराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने ।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः

१२५] स्वाराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ लाभालाभे जने वने च विशेषः निर्विकल्पस्वभावस्य योगिनः न अस्ति ॥

१२६) स्वाराज्ये स्वर्गराज्ये । भैक्ष्यवृत्तौ च । प्रारब्धवशतो लाभे । तदभावे । जने जनसमूहे । वने विजने च । विशेषो योगिनो नास्ति ॥ कीदृशस्य । विकल्परहित-स्वभावस्येत्यर्थः॥१०१॥

६२७
क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता ।
इदं कृतमिदं नेति द्वंद्वैर्मुक्तस्य योगिनः ॥१२॥

६२७] इदं कृतं इदं न इति द्वंद्वैः मुक्तस्य योगिनः धर्मः क्व वा कामः क्व च अर्थः क्व च विवेकता क्व ॥

६२८) इदं कृतमिदं न कृतमित्यादि द्वंद्वै-र्मुक्तस्य योगिनः धर्मार्थकामाः । विवेकता मोक्षोपायभूतो विवेकश्च । न भवति । तन्मूल-भूताविद्याकामसंकल्पादीनां विनाशादित्यर्थः॥१२॥

६२९ कथं तर्हि जीवन्मुक्तस्य लोके क्रियेत्याशंक्य । जीवनादृष्टवशादेवेत्याह—

६३०
कृत्यं किमपि नैवास्ति न कापि हृदि रंजना ।
यथा जीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः॥१३॥

६३०] जीवन्मुक्तस्य योगिनः किं अपि कृत्यं न एव अस्ति । हृदि का अपि रंजना न । यथा जीवनं एव इह॥

६३१) जीवन्मुक्तस्य योगिनः संकल्पवशात् किमपि कृत्यं नैवास्ति । तथा । हृदि मनसि । कापि रंजना कोऽपि अनुरागो न अस्ति । तद्धेतुभूताया विद्याया अभावात् । तथापि अस्य कृत्यं यथा जीवनं जीवनादृष्टमनतिक्रम्य भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

००००००००००००००००००००००००००००००००

६३२

क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व तद्ध्यानं क्व मुक्तता ।
सर्वसंकल्पसीमायां विश्रांतस्य महात्मनः ॥ १४

६३२] सर्वसंकल्पसीमायां विश्रांतस्य महात्मनः मोहः क्व वा विश्वं क्व च तद्ध्यानं क्व मुक्तता क्व ॥

६३३) संकल्पसीमायां आत्मबुद्धौ । विश्रांतस्य । मोहादिकं क्व भवति । किं कारणमाश्रित्य भवति । न किमपि कारणमाश्रित्य भवति। आत्मबुद्ध्या कारणोपमर्दादित्यर्थः ॥ १४ ॥

६३४
येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै ।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति१५

६३४] येन इदं विश्वं दृष्टं सः न अस्ति इति करोतु वै पश्यन् अपि न पश्यति निर्वासनः किं कुरुते ॥

६३५) येन इदं विश्वं घटपटादि । दृष्टं । स तदाहितसंस्कारः । कदाचित् घटादिकं नास्तीति करोतु वै नास्तीति जानातु । यः पश्यन्नपि न पश्यति स निर्वासनः सन् किं कुरुते । यद्विषयकः संस्कारोऽपि नास्ति । तस्य कर्तुमशक्यत्वादित्यर्थः ॥ १५ ॥

६३६
येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिंतयेत् ।
किं चिंतयति निश्चिंतो द्वितीयं यो न पश्यति१६

६३६] येन परं ब्रह्म दृष्टं सः अहं ब्रह्म इति चिंतयेत् ।-यः द्वितीयं न पश्यति निश्चिंतः किं चिंतयति ॥

६३७) येन परं व्यतिरिक्तं । ब्रह्म दृष्टं ।

न अहं ब्रह्मेति चिंतयेत् । यः तु द्वितीयं न पश्यति । न निश्चितः सर्वचितारहितः, सन् । किं चिंतयति । न किमपि चिंतयति । अद्विती-यात्मानुभवशालिनि ब्रह्मचिंतनमपि नास्तीत्यर्थः १६

ooooooooooooooooooooooooooooooooooo

६३८ ज्ञानिनश्चित्तनिरोधोऽपि नास्तीत्याह—

१३१

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ ।
उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम्

६३९] येन आत्मविक्षेपः दृष्टः असौ तु निरोधं कुरुते । उदारः तु विक्षिप्तः न साध्याभावात् किं करोति ॥

६४०) येन आत्मविक्षेप-चित्तादिभ्रमो दृष्टः। असौ पुरुषः । चित्त-निरोधं कुरुते विक्षेप-परिहारार्थं । उदारः सर्वत्राद्वितीयात्मदर्शी तु विक्षिप्त एव न अस्ति। स विक्षेपपरिहारलक्षणस्य साध्याभावात् । किं कुरुते कथं निरोधं कुरुत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

६४१ इदमेव विवृणोति—

६४२
धीरो लोकविपर्यस्तो वर्त्तमानोऽपि लोकवत् ।
न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्य पश्यति १८

६४२] धीरः लोकविपर्यस्तः लोकवत् वर्त्तमानः अपि समाधिं न विक्षेपं न लेपं न स्वस्य पश्यति ॥

६४३) धीरः अद्वितीयात्मविश्रांतः । लोकविपर्यस्तः लोकेषु विक्षेपरहितः प्रारब्धवशात् लोकवद्वर्त्तमानोऽपि बाधितानुवृत्त्या व्यवहारपरोऽपि सन्नयं समाधिः अयं विक्षेपः तथा अयं विक्षेपकृतो लेप आत्मन इत्यादिकं न पश्यति । चिन्मात्रदर्शित्वात् ॥ १८ ॥

६४४
भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः ।
नैव किंचित्कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता १९

६४४] यः बुधः तृप्तः भावाभावविहीनः निर्वासनः तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता किंचित् न एव कृतं ॥

६४५) यो बुधस्तृप्तः स्वात्मानुभवतृप्तोऽत

६४९ ननु ज्ञानी चेन्निर्वासनस्तर्हि केन प्रयुक्तः कर्म करोति इत्याशंक्याह—

६५०

निर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो मुक्तबंधनः ।
क्षिप्तः संस्कारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्॥२१॥

६५०] निर्वासनः निरालंबः स्वच्छंदः मुक्तबंधनः संस्कारवातेन क्षिप्तः शुष्कपर्णवत् चेष्टते ॥

६५१) निर्वासनः । अत एव निरालंबः कर्त्तव्यानुसंधानरहितः । अत एव स्वच्छंदः रागद्वेषानधीनः । यतो मुक्तबंधनः बंधहेत्वज्ञान-शून्यः ज्ञानी । संस्कारवातेन क्षिप्तः प्रारब्ध-पवनेन प्रेरितः सन् । शुष्कपर्णवत् विचेष्टते॥२१

oooooooooooooooooooooooooooooooo

६५२ संसारसंकल्पादिशून्यस्तु सर्वदा संतुष्ट एवेत्याह—

६५३

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता ।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते॥२२॥

६५३] असंसारस्य तु क्व अपि हर्षः न विषादता न नित्यं शीतलमनाः सः विदेहः इव राजते ॥

६५४) न विद्यते संसारस्य हेतुः संकल्पो यस्य तस्य असंसारस्य हर्षादिका ऊर्मयो न जायंते । अत एव ऊर्मिरहितत्वात् नित्यं शीतलमना विदेह-मुक्त इव राजते "षडूर्मि-रहितः शिव" इति स्मृतेः ॥ २२ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooo

कुत्रापि न जिहासास्ति नाशो वापि न कुत्रचित्
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः॥२३॥

६५५] आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः कुत्र अपि न अस्ति जिहासा नाशः वा अपि कुत्रचित् न॥

६५६) आत्मारामस्य । अत एव धीरस्य निश्चलचित्तस्य । अत एव शीतलः अच्छतरः निर्मलतरः आत्मा मनो यस्य तस्य शीतलाच्छ-तरात्मनः ज्ञानिनः । कुत्रापि जिहासा त्यागेच्छा नास्ति । उपादित्सापि नास्ति । रागद्वेषाभावात् । नाशोऽपि अनर्थोऽपि कुत्रचित् न अस्ति । अन-र्थहेतोरज्ञानस्याभावादित्यर्थः ॥ २३ ॥

६५७ प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया ।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता॥२४

६५७] प्रकृत्या शून्यचित्तस्य धीरस्य प्राकृतस्य इव यदृच्छया कुर्वतः अस्य मानः न अवमानता न ॥

६५८) प्रकृत्या स्वभावेन । शून्यं विकाररहितं चित्तं यस्य तस्य धीरस्य आत्मविश्रांतस्य। प्राकृतस्येव अज्ञानिन इव । यदृच्छया प्रारब्धवशात् । कुर्वतोऽस्य विदुषः । स्वमानापमानानुसंधानं नास्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

६५९ कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा ।
इति चिंतानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न २५

६५९] देहेन इदं कर्म कृतं शुद्धरूपिणा मया न इति चिंतानुरोधी यः कुर्वन् अपि न करोति ॥

६६०) इति चिंतामनुरोध्यते निरंतरं श्रयति यः स कुर्वन्नपि न करोति । कर्तृत्वाभिमानाभावादित्यर्थः ॥ २५ ॥

६६१ अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः ।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते२६

६६१] जीवन्मुक्तः अतद्वादी इव कुरुते अपि बालिशः न भवेत् संसरन् अपि सुखी श्रीमान् शोभते ॥

६६२) जीवन्मुक्तः अतद्वादीव अहमिदं करिष्यामीत्यवदन्नेव । कार्यं कुरुते । प्रारब्धवशादवदन् अपि बालिशो मूर्खो । न भवेत् । अंतर्ज्ञानित्वात् । अत एव संसरन्नपि संसारव्यवहारं कुर्वन्नपि अंतः सुखी । अत एव श्रीमान् प्रसन्नतया शोभावान् । अत एव शोभते दीप्यते स्वप्रकाश इत्यर्थः ॥ २६ ॥

---

६६३ नानाविचारसुश्रांतो धीरो विश्रांतिमागतः ।
न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति२७

६६३] नानाविचारसुश्रांतः धीरः विश्रांतिम् आगतः न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति ॥

६६४) नानाविचारात् द्वैतविचारात् । सुश्रांतः इव निवृत्तो । यतो धीरो ज्ञानी । अत एव आत्मन्येव विश्रांतिमागतः । अत एव न कल्पते । संकल्पादिकं मनोव्यापारं न करोति । न जानाति बुद्धिव्यापारं न करोति । शब्दं न शृणोति । रूपं न पश्यति । इंद्रियमात्रव्यापारं न करोति । कर्तृत्वाभिमानाभावादित्यर्थः ॥ २७ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००

६६५ असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः ।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन्ब्रह्मैवास्ते महाशयः२८

६६५] मुमुक्षुः न असमाधेः इतरः च अविक्षेपात् न॥

६६६) ज्ञानी मुमुक्षुः न भवति । असमाधेः समाधेरकरणात्तथा इतरो बद्धो न भवति । अविक्षेपात् द्वैतभ्रमाभावादित्यर्थः ॥

६६७ कीदृशस्तर्हि ज्ञानीत्याशंक्याह—

६६८] कल्पितं निश्चित्य पश्यन् महाशयः ब्रह्म एव आस्ते॥

६६९) इदं सर्वं कल्पितं इति पूर्वमेव निश्चित्य । पश्चात् बाधितानुवृत्त्या पश्यन् अपि महाशयः निर्विकारचित्तः अत एव ब्रह्मैवास्ते २८

०००००००००००००००००००००००००००००००

६७० ननु संसारं पश्यन्नेव कथं ब्रह्मेत्याशंक्याहंकाराभावादित्याह—

६७१ यस्यांतः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।
निरहंकारधीरेण न किंचिदकृतं कृतम् ॥२९॥

६७१] यस्य अंतः अहंकारः स्यात् सः न करोति करोति निरहंकारधीरेण अकृतं न किंचित् कृतं ॥

६७२) यस्यांतःकरणे अहंकाराध्यासः स्यात् । सः लोकदृष्ट्या न कुर्वन्नपि संकल्पादिकं करोति कर्तृत्वाध्यासात् ॥ निरहंकारेण । अत एव धीरेण कर्तृत्वाध्यासरहितेन । यद्यपि लोकदृष्ट्या अकृतं । तथापि स्वदृष्ट्या न किंचित् अपि कृतं कर्तृत्वाध्यासाभावादित्यर्थः । “ यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ” इति स्मृतेः ॥२९॥

६७३ मुक्तचित्तं वर्णयति द्वाभ्यां—

६७४
नोद्विग्नं न च संतुष्टमकर्तृ स्पंदवर्जितम् ।
निराशं गतसंदेहं चित्तं मुक्तस्य राजते ॥३०॥

६७४] मुक्तस्य चित्तं राजते न उद्विग्नं न च संतुष्टं अकर्तृ स्पंदवर्जितं निराशं गतसंदेहं ॥

६७५) मुक्तस्य चित्तं राजते केवलप्रकाशरूपमेव । यतो नोद्विग्नं उद्वेगहेतोर्द्वेषस्याभावात् । न च संतुष्टं संतोषहेतोरनुरागाभावात् । तथा अकर्तृ स्पंदवर्जितं संकल्पविकल्पशून्यमत एव निराशं । गतः संदेहो यस्मात्तत् गतसंदेहं संदेहहेतोरज्ञानस्य नष्टत्वादित्यर्थः ॥ ३० ॥

६७६
निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्त्तते ।
निर्निमित्तमिदं किंतु निर्ध्यायति विचेष्टते ३१

६७६] यच्चित्तं चेष्टितुं वा अपि निर्ध्यातुं न प्रवर्त्तते किंतु इदं निर्निमित्तं निर्ध्यायति विचेष्टते ॥

६७७) यस्य ज्ञानिनः चित्तं निर्ध्यातुं

निःक्रियत्वेन स्थातुं। चेष्टितुं चेष्टां संकल्पादिरूपां कर्त्तुं। वापि । न प्रवर्त्तते न संकल्पयति। किंतु इदं ज्ञानिनश्चित्तं निर्निमित्तं संकल्परहितमेव सत् निध्यायति निश्चलं स्वरूपे तिष्ठति चेष्टति। तथा विचेष्टते विविधां चेष्टां करोतीत्यर्थः॥३१॥

६७८ ज्ञान्यज्ञानिनोर्निर्विशेषं वदन्नेव ज्ञानिनो विरलत्वमाह—

६७९
तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मंदः प्राप्नोति मूढताम्।
अथवायाति संकोचममूढः कोऽपि मूढवत्३२

६७९] मंदः यथार्थं तत्त्वं आकर्ण्य मूढतां प्राप्नोति अथवा संकोचं आयाति कः अपि अमूढः मूढवत् ॥

६८०) मंदः अज्ञानी । यथार्थं तत्त्वं तत्त्वंपदार्थाभेदं । श्रुतेः आकर्ण्य असंभावनाविपरीतभावनाभ्यां मूढतां अविवेकं । प्राप्नोति । अथवा शास्त्रार्थसाक्षात्काराय संकोचं चित्तसमाधिं आयाति। कोऽपि सहस्रेष्वेकः अंतः असंमूढोऽपि। बाह्यगत्या मूढवत् बहिर्व्यवहारकर्त्ता भवति३२

६८१ " अथवायाति संकोचं " इत्यनेनोक्ता-वेकाग्रतानिरोधौ दूषयति—

एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम् ।
धीराः कृत्यं न पश्यंति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः२२

६८२] एकाग्रता वा निरोधः मूढैः भृशं अभ्यस्यते सुप्तवत् स्वपदे स्थिताः धीराः कृत्यं न पश्यंति ॥

६८३) एकाग्रता एकमेव अग्रं ध्येयं यस्य तदेकाग्रं । एकाग्रस्य भाव एकाग्रता । वा एकाग्रता एकलक्ष्यनिष्ठचित्तता । अथ-वा निरोधः चित्त-विलयो । मूढैः अनुत्पन्नात्मसाक्षात्कारैः । विपरीतभावनानिवृत्त्यर्थं भृशं अत्यर्थं । अभ्यस्यते। सुप्तवत् सुपुप्तवत् । देहात्मधीराहित्येन स्वपदे स्वरूपे स्थिता धीरा विज्ञानिनस्तु । प्रागुक्तं किमपि कृत्यं न पश्यंति अद्वैतानंदात्मसाक्षा-त्कारेणैवानानंदादिभ्रमस्य दुरापास्तत्वादित्यर्थः २२

६८४ निरोधस्याकिंचित्करतामाह—

६८५ अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम् ॥
तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः ॥३४॥

६८५] मूढः अप्रयत्नात् प्रयत्नात् वा निर्वृतिं न आप्नोति प्राज्ञः तत्त्वनिश्चयमात्रेण निर्वृतः भवति ॥

६८६) मूढः पुरुषः मूढो ब्रह्मात्मैकनिश्चयशून्यः । अप्रयत्नात् चित्तनिरोधात् । प्रयत्नात् कर्मानुष्ठानात् वा । निर्वृतिं परमं सुखं । न प्राप्नोति । आनंदहेतोरात्मानंदानुभवाभावादित्यर्थः। प्राज्ञः तु । समाधिं वाक्कर्म वाप्यकुर्वन् । तत्त्वनिश्चयमात्रेण कृतार्थो भवति दुःखहेतोरज्ञानस्य ज्ञानेन दग्धत्वादित्यर्थः ॥ ३४ ॥

६८७ ननु मूढस्य योगाभ्यासादात्मानुभवो भविष्यतीत्याशंक्य । नेत्याह—

६८८
शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निःप्रपंचं निरामयम् ।
आत्मानं तं न जानंति तत्राभ्यासपरा जनाः

६८८] तत्र अभ्यासपराः जनाः आत्मानं तं न जानंति शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निःप्रपंचं निरामयं ॥

६८९) तत्र जगति । अभ्यासपरा जनाः अज्ञानिनः । आत्मानं तं न जानंति ॥ कीदृशं । शुद्धं मायामलातीतं । अत एव बुद्धं स्वप्रकाशं । प्रियं सुखरूपं । पूर्णं । यतो निःप्रपंचं । अत एव निरामयं दुःखसंबंधरहितमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

६९० इदमेव विवृणोति—

६९१
नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा ।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः ३६

६९१] विमूढः अभ्यासरूपिणा कर्मणा मोक्षं न आप्नोति धन्यः विज्ञानमात्रेण अविक्रियः मुक्तः तिष्ठति॥

६९२) विमूढः अनात्मज्ञः । अभ्यास-रूपिणा योगाभ्यासात्मकेन कर्मणा । मोक्षं नाप्नोति । " न कर्मणा न प्रजया न धनेन " इति श्रुतेः । धन्यो भाग्यवान् विरलो । विज्ञान-मात्रेण अविक्रियो निरस्ताविद्याकामकर्मा । अत एव मुक्तस्तिष्ठति ॥ ३६ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००००

६९३ मुमुक्षुरपि मूढो ब्रह्म नाप्नोतीत्याह—

६९४
मूढो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति ।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक् ३७

६९४] मूढः यतः तत् ब्रह्म भवितुं इच्छति न आप्नोति हि धीरः अनिच्छन् अपि परब्रह्मस्वरूपभाक् ॥

६९५) मूढः अज्ञानी । यतः चित्तनिरोधादेव। ब्रह्म भवितुमिच्छति । ततो ब्रह्म नाप्नोति ॥ हि निश्चितं । धीरो ज्ञानी । मोक्षं अनिच्छन्नपि परब्रह्मस्वरूपभाक् । व्यवधानस्य निवृत्तत्त्वा-दित्यर्थः ॥ ३७ ॥

६९६ एतदेव स्पष्टयति–

निराधारा[६९७] ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः ॥
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः।३८।

६९७] मूढाः निराधाराः ग्रहव्यग्राः संसारपोषकाः बुधैः अनर्थमूलस्य एतस्य मूलच्छेदः कृतः ॥

६९८) मूढाः अज्ञानिनः । निराधारा ग्रहव्यग्राः केवलेन चित्तनिरोधेनैवाहं मोक्ष्यामीति निःकारणदुराग्रहव्यग्राः। प्रत्युत संसारपोषकाः संसारनिवर्तकज्ञानपराङ्मुखत्वात् ॥ बुधैः ज्ञानिभिः। अनर्थमूलस्य। एतस्य संसारस्य। मूलच्छेदः कृतः। संसारमूलभूताज्ञानस्य ज्ञानेन निवृत्तत्वादित्यर्थः ३८

६९९ किंच—

न[७००] शांतिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति ॥
धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शांतमानसः३९

७००] मूढः यतः शमितुं इच्छति न शांतिं लभते धीरः तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शांतमानसः ॥

७०१) मूढः अज्ञानी। यतः चित्तनिरोधादेः। शमितुमिच्छति। न ततः शांतिं लभते॥ धीरो विवेकी। तत्त्वं विनिश्चित्य शमितुमनिच्छन्नपि। स्वभावादेव सर्वदा शांतमानसो भवति। चेतोविकारहेतोरज्ञानस्य निवृत्तत्त्वादित्यर्थः ॥ ३९ ॥

७०२ किंच—

[७०३]क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलंबते॥
धीरास्तं तं न पश्यंति पश्यंत्यात्मानमव्ययम्॥४०

७०३] यद्दृष्टं अवलंबते तस्य आत्मनः दर्शनं क्व। धीराः तं तं न पश्यंति। अव्ययं आत्मानं पश्यंति॥

७०४) यद्दृष्टं यस्य दृष्टं ज्ञातं। अवलंबते दृश्यं विषयीकरोति। तस्यात्मनो दर्शनं क्व। न क्वापीत्यर्थः॥ धीराः ज्ञानिनः। तं तं तिमिरप्रदीपादिकं दृश्यपदार्थं। न पश्यंति। किंतु चिद्रूपं आत्मानं पश्यंति॥ ४०॥

क्क^७०५ निरोधो विमूढस्य यो निर्बंधं करोति वै ॥
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः ४१॥

७०५] यः निर्बंधं वै करोति विमूढस्य क्क निरोधः। स्वारामस्य एव धीरस्य सर्वदा असौ अकृत्रिमः॥

७०६) यः अज्ञानी। शुष्कचित्तनिरोधे निर्बंधं करोति। तस्य विमूढस्य क्क चित्त-निरोधः न क्वापि। अज्ञानिनां समाध्युपरमे पुनश्चित्तप्रसारात्॥ स्वारामस्यैव आत्मारामस्य। अत एव निश्चल-चित्तस्य। सर्वदाऽसौ चित्तनिरोधः अकृत्रिमः स्वाभाविकः। सर्वदा स्वात्मानुभवशालित्वात्४१॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

भा^७०७वस्य भावकः कश्चिन्न किंचिद्भावकोऽपरः॥
उभयाभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः॥४२॥

७०७] कश्चित् भावस्य भावकः। अपरः किंचित् न भावकः। कश्चित् उभयाभावकः एवं एव निराकुलः॥

७०८) कश्चित् तार्किकादिः भावस्य

भावकः भावरूपं परमार्थतः सन् प्रपंच इति भावयते मन्यते इति भावस्य भावकः । अपरः शून्यवादी बौद्धः । न किंचिदस्तीति विभावयतीति न किंचिद्भावकः ॥ कश्चित् सहस्रेष्वेव कश्चिदात्मानुभवशाली । उभयाभावकः सन् एवं उभयाभावनेन एव । निराकुलः स्वस्थचित्त आस्ते इत्यर्थ-

०००००००००००००००००००००००००००००००००

७०९ "न किंचिदपि चिंतयेत्" इति भगवद्वचनं ॥ सिद्धांतमभिप्रेत्याह—

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयंति कुबुद्धयः ।
न तु जानंति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः ४३

७१०] कुबुद्धयः शुद्धं अद्वयं आत्मानं भावयंति । न तु जानंति । संमोहात् यावज्जीवं अनिर्वृताः ॥

७११) कुबुद्धयः मूढबुद्धय एव । शुद्धं निर्मलं । अद्वयं द्वैतवर्जितं । आत्मानं अतनशीलं व्यापकं । भावयंति चिंतयंति । न तु जानंति साक्षात्कुर्वंति । कुतः । संमोहात्

निर्मलत्वस्य कल्पितमलसापेक्षत्वादद्वयस्य कल्पितद्वैतसापेक्षत्वात् आत्मत्वस्य च कल्पितानात्मसापेक्षत्वात्सापेक्षरूपचिंतनेन तु मोहानिवृत्तेः यतो न जानंति । अत एव यावज्जीवमनिर्वृताः परमसंतोषरहिताः। संतोषस्य ज्ञानैकलभ्यत्वादित्यर्थः ४३

७१२ इदमेव विशदयति—

७१३ मुमुक्षोर्बुद्धिरालंबमंतरेण न विद्यते ।
निरालंबैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा ४४

७१३] मुमुक्षोः बुद्धिः आलंबं अंतरेण न विद्यते । मुक्तस्य निष्कामा बुद्धिः सर्वदा निरालंबा एव ॥

७१४) मुमुक्षोः अनधिगतात्मसाक्षात्कारस्य। बुद्धिः । स विशेषालंवनं अंतरेण । न विद्यते साक्षात्काराभावात् ॥ मुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य । अतएव मुक्तावपि निष्कामा बुद्धिः । सर्वदा निरालंबैव निर्विशेषात्मानुभवरूपैव । सविशेषादिपरित्याग एवात्मानुभवः ॥ ४४ ॥

७१५ निरोधोऽपि विषयस्फूर्तिचकितैरेवानुष्ठीयते न तु विशेषज्ञैरित्याह——

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः ।
विशंति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्रसिद्धये॥४५॥

७१६] विषयद्वीपिनः वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः निरोधैकाग्रसिद्धये झटिति क्रोडं विशंति ॥

७१७) विषयद्वीपिनो विषयव्याघ्रान् वीक्ष्य "शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे" इत्यमरः । भीताः शरणार्थिनः स्वात्मरक्षणार्थिनो । मूढा एव । निरोधसिद्धये एकलक्ष्यवृत्तिसिद्धये वा । झटिति शीघ्रं । क्रोडं कंदरांतःप्रदेशं । विशंति न तु ज्ञानिन इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

७१८ वासनात्याग एव विषयभयनिवृत्ति-रित्याह—

७१९ निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदंतिनः ॥
पलायंते न शक्तास्ते सेवंते कृतचाटवः॥४६॥

७१९] निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा विषयदंतिनः न शक्ताः तूष्णीं पलायंते कृतचाटवः ते सेवंते ॥

७२०) निर्वासनो यः पुरुषस्तल्लक्षणं । हरिं सिंहं । दृष्ट्वा विषयदंतिनो न शक्ताः संतः तूष्णीं मौनं यथा स्यात्तथा । पलायंते । कृत-चाटवः कृतप्रियवचना इव तं निर्वासनं ईश्वराकृष्टाः स्वयमागत्य सेवंत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooo

७२१ न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः
पश्यन्शृण्वन् स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्

७२१] निःशंकः युक्तमानसः मुक्तिकारिकां न धत्ते पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् यथासुखं आस्ते ॥

७२२) निःशंको गतसंशयः । अत एव युक्तमानसो निश्चलमानसः ज्ञानी । मुक्तिकारिकां यमनियमादिक्रियामाग्रहात् न धत्ते । किं तर्हि । कर्तृत्वाध्यासरहितत्वात् यथासुखं आत्मसुखमनतिक्रम्य । लोकदृष्ट्या ईक्षणादिक्रियां कुर्वन् आस्ते इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

---

७२३ वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः ।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति ॥४८॥

७२३] वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिः निराकुलः आचारं अनाचारं औदास्यं वा न एव प्रपश्यति ॥

७२४) वस्तुनश्चिदात्मनः श्रवणमात्रेण जाता या शुद्धबुद्धिः अखंडात्मसाक्षात्कारस्ततो निराकुलः स्वस्वरूपस्थः पुरुषः । आचारं क्रियानुष्ठानं । अनाचारं अशुभं कर्म वा । औदास्यं नैष्कर्म्यं उभयत्रापि ताटस्थ्यं वा । एतत्त्रयमपि नैव प्रपश्यति । आत्मस्थत्वादित्यर्थः ॥ ४८ ॥

[७२५]यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः ।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत्४९

७२५] यदा यत् शुभं वा अशुभं अपि कर्तुं आयाति तदा तत् कुरुते ऋजुः हि तस्य चेष्टा वा अपि बालवत्।

७२६) यदा यत् शुभं नैष्कर्म्यं वा अशुभं कर्म वा । कर्तुमायाति । तत् लोकदृष्ट्या प्रारब्धवशात् कुरुते । ऋजुः आग्रहरहितः । हि यतः कारणात् । तस्य चेष्टा बालवत् प्रारब्धमात्रायत्ता न रागद्वेषाधीना ॥ ४९ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

[७२७]स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातंत्र्याल्लभते परम्।
स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत्स्वातंत्र्यात्परमं पदं५०

७२७] स्वातंत्र्यात् सुखं आप्नोति स्वातंत्र्यात् परं लभते स्वातंत्र्यात् निर्वृतिं गच्छेत् स्वातंत्र्यात् परमं पदम् ॥

७३१ उच्छृंखलाप्यकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते ।
न तु सस्पृहचित्तस्य शांतिर्मूढस्य कृत्रिमा ५२

७३१] धीरस्य अकृतिका उच्छृंखला अपि स्थितिः राजते । सस्पृहचित्तस्य मूढस्य तु कृत्रिमा शांतिः न ॥

७३२) धीरस्य वीतस्पृहस्य अकृतिका अकृत्रिमा । उच्छृंखलापि शांतिरहितापि स्थितिः। शोभते । सस्पृहचित्तस्य मूढस्य तु कृत्रिमा शांतिः न शोभते इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

७३३ निरस्तकल्पनानां ज्ञानिनां तु भोग-तच्छांत्योरप्यनाग्रह इत्याह—

७३४ विलसंति महाभोगैर्विशंति गिरिगव्हरान् ।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः ५३

७३४] निरस्तकल्पनाः धीराः महाभोगैः विलसंति गिरिगव्हरान् विशंति अबद्धाः मुक्तबुद्धयः ॥

७३५) निरस्तकल्पना धीराः ज्ञानिनः कदाचित्प्रारब्धवशात् महाभोगैः विलसंति क्रीडंति । कदाचित्प्रारब्धवशात् गिरिगह्वरान् पर्वतवनानि विशंति । कीदृशाः । अबद्धाः आसक्तिरहिताः । यतो मुक्तबुद्धयः । कर्तृत्वाध्यासरहितबुद्धय इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००

७३६
श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपतिं प्रियम् ।
दृष्ट्वा संपूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना॥

७३६] धीरस्य श्रोत्रियं देवतां तीर्थं संपूज्य अंगनां भूपतिं प्रियं दृष्ट्वा हृदि का अपि वासना न ॥

७३७) धीरस्य ज्ञानिनः श्रोत्रिय-देवता-तीर्थ-पूजने सति हृदि कापि वासना धर्मार्थकामवासना न जायते । तथा । अंगनां भूपतिं प्रियं पुत्रादिकं च दृष्ट्वा कापि काम्यपदार्थवासना न जायते । सर्वत्र समबुद्धित्वादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

७३७ भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः ।
विहस्य धिकृतो योगी न याति विकृतिं मनाक्

७३८] भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैः च दौहित्रैः च अपि गोत्रजैः विहस्य धिकृतः योगी मनाक् विकृतिं न याति॥

७३९) भृत्यादिभि-र्विहस्य उपहस्य धिकृतः तिरस्कृतो योगी मनाक् किंचिदपि । विकृतिं चित्तक्षोभं न याति । रागद्वेषहेतोर्मोहस्याभावादित्यर्थः ॥ ५५ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooo

७४०
संतुष्टोऽपि न संतुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते ।
तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानते५६

७४०] संतुष्टः अपि संतुष्टः न । च खिन्नः अपि न खिद्यते तां तां आश्चर्यदशां तस्य तादृशाः एव जानते ॥

७४१) लोकदृष्ट्या संतोषादियुक्तोऽपि वस्तुतः तद्रहितः । तस्य ज्ञानिनः । तां तां आश्चर्यदशां तादृशा एव ज्ञानिन एव जानते ॥५६॥

[७४२] कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यंति सूरयः ।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः॥

७४२] कर्तव्यता एव संसारः सूरयः तां न पश्यंति शून्याकाराः निराकाराः निर्विकाराः निरामयाः ॥

७४३) कर्तव्यतैव ममेदं कर्तव्यमिति कार्यसंकल्प एव । संसारः तद्धेतुत्वात् । सूरयो ज्ञानिनः तां कर्तव्यतां। न पश्यंति न संकल्पयंति । संकल्पमात्ररहितत्वात् । कीदृशाः सूरयः । शून्ये सर्वकार्यक्षये तथा वर्तमानघटाद्याकारे व्याकृते आकारः आभासो विश्वं येषां ते शून्याकाराः. घटाद्याकाराः । निराकाराः अत एव । निर्विकाराः समा आत्मदर्शिनः। अत एव निरामयाः संकल्पोपप्लवरहिता इत्यर्थः ॥ ५७.॥

अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः ।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः५८

७४४] अकुर्वन् अपि मूढधीः सर्वत्र संक्षोभात् व्यग्रः । कृत्यानि कुर्वन् अपि तु कुशलः हि निराकुलः ॥

७४५) अकुर्वन्नपि मूढधीः । सर्वत्र शून्याकारनिराकारेषु । संक्षोभात् संकल्पात् । व्यग्रः भवति । लोकदृष्ट्या कृत्यानि कुर्वन्नपि । कुशलो विद्वान् । हि निश्चितं । निराकुलो निश्चलचित्तः । आत्मारामत्वादेवेत्यर्थः ॥ ५८ ॥

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च ।
सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपि शांतधीः५९

७४६] व्यवहारे अपि शांतधीः सुखं आस्ते । सुखं शेते । सुखं आयाति च याति । सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते ॥

७४७) प्राक्तनवशात् व्यवहारे जायमाने । शांतधीः आत्मनिष्ठबुद्धिर्विद्वान् । आत्म-सुखं

अनतिक्रम्यैव आस्ते उपविशति । शेते आगच्छति गच्छति वक्ति भुंक्ते । सर्वेंद्रियव्यापारं करोतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००

७४८) ननु ज्ञानिनोऽपि व्यवहारेषु कथं न खेद इत्यत आह—

७४९ स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवद्व्यवहारिणः ।
महाह्रद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते॥६०॥

७४९] व्यवहारिणः यस्य लोकवद् आर्तिः न एव । स्वभावात् गतक्लेशः महाह्रदः इव अक्षोभ्यः सुशोभते ॥

७५०) **व्यवहारिणः** अपि **यस्य** ज्ञानिनो **लोकवत्** प्राकृतजनवत् । **आर्तिः** खेदो **न** जायते । कुतः **स्वभावात्** । साक्षात्कृतानंदस्य स्वभावादात्मसामर्थ्यादित्यर्थः । स **गतक्लेशो** ज्ञानी **महाह्रद इव अक्षोभ्यो** निर्विकारः **सुशोभते** ॥ ६० ॥

७५१
निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी ॥६१॥

७५१] मूढस्य निवृत्तिः अपि प्रवृत्तिः उपजायते । धीरस्य प्रवृत्तिः अपि निवृत्तिफलभागिनी ॥

७५२) लोकदृष्ट्या प्रतीयमानापि मूढस्य बाह्येंद्रियव्यापाराणां निवृत्तिः । प्रवृत्ति-स्वरूपैव जायते । अहंकारादीनामनिवृत्तत्वात् । धीरस्य ज्ञानिनः लोकदृष्ट्या प्रारब्धवशात् प्रतीयमानापि प्रवृत्तिरपि निवृत्तिफलभागिनी मुक्तिपर्यवसायिनी स्यात् । अहं करोमीत्यभिमानाभावादित्यर्थः ॥६१॥

०००००००००००००००००००००००००००००००००

७५३
परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते ।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता ६२

७५३] मूढस्य परिग्रहेषु प्रायः वैराग्यं दृश्यते । देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता ॥

७५४) मूढस्य । देहाभिमानिनस्तत्संबंधितया परिगृहीतेषु धनवेश्यादिषु । प्रायो बाहुल्येन

वैराग्यं दृश्यते । देहे विगलिताशस्य क्व तत्संबंधिनि पुत्रगृहादौ रागः स्यात् । क्व च शत्रुव्याघ्रादौ विरागता स्यात् । देहे रागविरागयोरभावे तत्संबंधिषु रागविरागयोर्वक्तुमशक्यत्वादेवेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooooo

७५५
भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा ।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टिरूपिणी ६३

७५५] मूढस्य दृष्टिः सर्वदा भावनाभावनासक्ता । स्वस्थस्य तु सा भाव्यभावनया अदृष्टिरूपिणी ॥

७५६) मूढस्य दृष्टिः सर्वदा भावनायां अभावनायां वा सक्ता । अहं भावनां करोमि । यद्वाहमभावनां करोमीत्यहंकारात् स्वस्थस्य आत्मनिष्ठस्य तु सा दृष्टिः । भाव्यभावनया दृश्यचिंतया उपलक्षितापि अदृष्टिरूपिणी दृश्यदर्शनरहितरूपैव स्यात् । अहं करोमीत्यभिमानाभावादित्यर्थः ॥ ६३ ॥

७५७ ननु सादृश्यभावने क्रियमाणेऽपि तस्य दृष्टिः कथं दृश्यानालंबिनीत्याशंक्य । निष्कामत्वादित्याह—

७५८सर्वारंभेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः ।
न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्मणि ॥

७५८] यः बालवत् निष्कामः मुनिः सर्वारंभेषु चरेत् तस्य शुद्धस्य कर्मणि क्रियमाणे अपि न लेपः ॥

७५९) यो बालवत् निष्कामः सन् प्राक्तनवशात् । सर्वारंभेषु चरति प्रवर्तते । तस्य शुद्धस्य अहंकारमलवर्जितस्य । कर्मणि क्रियमाणे न लेपो न कर्तृता स्यात् । अहंकाराभावादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooo

७६० एवंविधोऽतिधन्य इत्याह—

७६१स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्ननिस्तर्षमानसः ॥

७६१] सः एव आत्मज्ञः धन्यः यः सर्वभावेषु समः निस्तर्पमानसः पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् ॥

७६२) स एव आत्मज्ञः धन्य एव नान्यः। यः सर्वभावेषु समः आत्मबुद्धिः अत एव । निस्तर्पमानसः वितृष्णचित्तो भवति । किं कुर्वन् पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् अपि६५

ooooooooooooooooooooooooooooooo

७६३ तस्यैव धन्यत्वे युक्तिमाह—

७६४ क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनं।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा६६

७६४] आकाशस्य इव सर्वदा निर्विकल्पस्य धीरस्य संसारः क्व आभासः क्व च साध्यं क्व च साधनं क्व ॥

७६५) धीरस्य ज्ञानिनः । अत एव सर्वदा विकल्परहितस्य संसारः प्रपंचः क्व । अत एव तत्प्रतिभासश्च क्व। अत एव साध्यं स्वर्गादिकं क्व। अत एव साधनं यागादिकं क्व। न क्वापीत्यर्थः६६

स[७६६] जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः ।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते ॥६७

७६६] सः अर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः जयति यस्य अकृत्रिमः अनवच्छिन्ने समाधिः वर्तते ॥

७६७) स अर्थसंन्यासी । दृष्टादृष्टप्रयोजन-शून्यः । यतः पूर्णस्वरसः पूर्णस्वभावो विग्रहः स्वरूपं यस्य स पूर्णस्वरसविग्रहो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । सः कः । यस्य अकृत्रिमः स्वाभाविकः अनवच्छिन्ने पूर्णस्वरूपे समाधिः वर्तते स जयतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

---

७६८ ज्ञाततत्त्वस्य तु सर्वत्र निराकांक्षत्व-मेव मुख्यं लक्षणमित्याह—

[७६९] बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्त्वो महाशयः ।
[७७२] भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः॥६८।

७६९] अत्र बहुना उक्तेन किं ज्ञाततत्त्वः महाशयः॥

७७०) अत्र ज्ञानिनि बहुना उक्तेन लक्षणेन

किं प्रयोजनं । यतो ज्ञाततत्त्वो महाशयः ॥

७७१ महाशयत्वं विवृणोति—

७७२] भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः ॥

७७३) भोगमोक्षयोः फलयोः निराकांक्षी अत एव सदा सर्वत्र भोगमोक्षादिवस्तु नीरसः निरनुरागः ॥ १८ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

७७४ किंच—

महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृंभितम् ।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते ॥१९॥

७७५] महदादि जगत् द्वैतं नाममात्रविजृंभितं विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यं अवशिष्यते ॥

७७६) महदादि महदहंकारपंचतन्मात्रपंचमहाभूतभौतिकजगद्रूपं द्वैतं नाममात्रेणैव विजृंभितं विभिन्नमिव भातं । न तु वास्तवं । "वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं" इति श्रुतेः ॥ अत एव तत् कल्पनां विहाय

स्थितस्य । अत एव शुद्धबोधस्य स्वप्रकाश-चिन्मात्रस्वरूपस्य किं कृत्यमवशिष्यते । सर्वदा सच्चिदानंदाधिगमेनैव कृतकृत्यत्वादिति भावः॥६९

ooooooooooooooooooooooooooooooooooooooo

७७७ ननु तथापि अनर्थशांत्यर्थं प्रयत्नः कर्तव्य इत्याह—

ॐभ्रमभूतमिदं सर्वं किंचिन्नास्तीति निश्चयी ।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति॥

७७८] इदं सर्वं भ्रमभूतं किंचित् न अस्ति इति निश्चयी अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेन एव शाम्यति॥

७७९) अधिष्ठानसाक्षात्कारे सति । इदं सर्वं भ्रमभूतं भ्रमेणैव कल्पितं । अत एवेदं किंचित् किमपि वास्तवं नास्तीति निश्चयी । अलक्ष्य-स्फुरणः चिन्मात्रप्रतिभासवान् । अत एव शुद्धः स्वरूपसाक्षात्कारेण बाधिताध्यस्तमलत्वात् स्वभा-वेनैव शांतो न तु शांत्यर्थं ज्ञानातिरिक्तमपेक्ष्य-मित्यर्थः ॥ ७० ॥

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः ।
क विधिः क च वैराग्यं क त्यागः क शमोपि वा ॥

७८०] शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावं अपश्यतः विधिः क्व च वैराग्यं क्व त्यागः क्व वा शमः अपि क्व ॥

७८१) शुद्धस्फुरणरूपस्य स्वप्रकाशचिद्रूपस्य अत एव दृश्यभावं दृश्यपदार्थं अपश्यतः । क्व कुत्र कर्मणि विधिः । क्व केषु वा विषयेषु वैराग्यं । क्व केषु पदार्थेषु त्यागः । क्व केभ्यः पदार्थेभ्यः शमोऽपि वा कार्यः । दृश्यपदार्थस्यैवास्फुरणादित्यर्थः ॥ ७१ ॥

स्फुरतोऽनंतरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः ।
क बंधः क च वा मोक्षः क हर्षः क विषादता ७२

७८२] अनंतरूपेण स्फुरतः प्रकृतिं च न पश्यतः बंधः क्व च मोक्षः क्व वा हर्षः क्व विषादता क्व ॥

७८३) चिद्रूपेणैव प्रकाशमानस्य बंधादिकं नास्तीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

७८४ किंच—

७८५ बुद्धिपर्यंतसंसारे मायामात्रं विवर्तते ।
निर्ममो निरहंकारो निष्कामः शोभते बुधः७३

७८५] बुद्धिपर्यंतसंसारे मायामात्रं विवर्तते बुधः निरहंकारः निर्ममः निष्कामः शोभते ॥

७८६) बुद्धिः आत्मज्ञानेनेव पर्यन्तो नाशो यस्य तस्मिन् संसारे मायामात्रं मायाशबलितं चैतन्यं विवर्तते । अतात्त्विकं जगदाकारं प्राप्नोति । अतो बुधो विद्वानतात्त्विके शरीरे निरहंकारः तत्संबंधिनि कलत्रादौ निर्ममः । अत एव निष्कामः अत एव शोभते दीप्यते । कामानावृतत्वात् ॥७३॥

---

७८७ अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः ।
क्व विद्या च क्व वा विश्वं क्व देहोऽहंममेति वा॥

७८७] अक्षयं गतसंतापं आत्मानं पश्यतः मुनेः विद्या क्व च विश्वं क्व वा देहः क्व अहं मम इति वा ॥

७८८) अक्षयं अविनाशिनं । अत एव

संताप-रहितम् आत्मानं पश्यतो मुनेः । क्व विद्या क्व शास्त्राणीत्यर्थः । क्व च वा विश्वं क्व च देहः अहं ममेति वा क्व । आत्मातिरिक्तस्य विद्याविद्यादेः स्फुरणादित्यर्थः ॥ ७४ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooooo

७८९ आत्मज्ञस्य द्वैतानर्थनिवृत्तिरित्युक्त-मज्ञस्य तु चित्तनिरोधादीन्यपि कर्माणि कुंजर-शौचप्रायाणीत्याह—

७९०
निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि ।
मनोरथान्प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोत्यतत्क्षणात्॥७५

७९०] यदि जडधीः निरोधादीनि कर्माणि जहाति अतत्क्षणात् मनोरथान् प्रलापान् कर्तुं च आप्नोति ॥

७९१) यदि जडधीः । चित्त-निरोधादीनि जहाति । तर्हि अतत्क्षणात् अस्मादेव क्षणादा-रभ्य मनोरथान् प्रलापान् लक्षणया सर्वव्या-पारान् कर्तुमाप्नोति प्रवर्तते । तथा च मूढस्य चित्तनिरोधादिकमकिंचित्करमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

७९२ मूढस्यात्मश्रवणमप्यनर्थकमित्याह—

७९३
मंदः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम् ।
निर्विकल्पो वहिर्यत्नादंतर्विषयलालसः ॥७६॥

७९३] मंदः तद् वस्तु श्रुत्वा अपि विमूढतां न जहाति यत्नात् वहिः निर्विकल्पः अंतर्विषयलालसः ॥

७९४) मंदो मूर्खस्तदात्मवस्तु श्रुत्वापि विमूढतां न जहाति । मलिनचित्तस्य श्रवणादपि ज्ञानानुदयात् । अत एव मूढः यत्नात् वहि-र्दृष्ट्या निर्विकल्पो निर्व्यापारोऽपि अंतर्मनसि विषये यत्नाल्लोलुपो भवतीत्यर्थः ॥ ७६ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooo

७९५ ज्ञानी तु लोकदृष्ट्या कर्म कुर्वाणोऽप्यकर्तैवेत्याह—

७९६
ज्ञानाद्गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत् ।
नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किंचन ॥ ७७॥

७९६] यः ज्ञानात् गलितकर्मा लोकदृष्ट्या कर्मकृत् अपि न किंचन कर्तुं वक्तुं एव अवसरं न आप्नोति ॥

७९७) यः ज्ञानाद्गलितकर्मा गलितक्रियाध्यासः स लोकदृष्ट्या कर्मकृदपि किंचन कर्तुं वक्तुमेवावसरं नाप्नोति । अहं कर्म करिष्यामीति वक्तुमप्यवसरं नाप्नोति । कर्मावसरस्तु दुरापास्त इति भावः ॥ ७७ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooo

७९८) विद्वांस्तु तमःप्रकाशादिकं न पश्यतीत्यह—

क्व[७९९] तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किंचन।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातंकस्य सर्वदा ७८

७९९] धीरस्य निर्विकारस्य सर्वदा निरातंकस्य तमः क्व वा प्रकाशः क्व च हानं क्व न किंचन ॥

८००) धीरस्य ज्ञानिनः । अत एव निर्विकारस्य निरस्तमोहादिविकारस्य तमः क्व । तमसोऽभावे च तन्निरूप्यः प्रकाशो वा क्व । निरातंकस्य कालादिभयशून्यस्य हानं क्व च । न कुत्रेत्यर्थः। अनुरागादिशून्यत्वाच्च किंचन किमप्यादानादिकर्मापि क्व च न । न कुत्रापीत्यर्थः ॥ ७८ ॥

८०१) ज्ञानी त्वनिर्वाच्यस्वभाव इत्याह—

८०२ क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातंकतापि वा।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः

८०२] अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व वा निरातंकता अपि क्व ॥

८०३) योगिनः ज्ञानिनः । अत एव निःस्वभावस्य अत एव अनिर्वाच्यस्वभावस्य धैर्यं क्व विवेकित्वं च क्व निरातंकता निर्भयता अपि क्वेत्यर्थः ॥ ७९ ॥

---

८०४) ज्ञानिनः तत्त्वदृष्ट्या तु स्वर्गनरकमोक्षादिकं किंचिदपि नास्तीत्याह—

८०५ न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किंचन ८०

८०५] स्वर्गः न नरकः न एव च जीवन्मुक्तिः न एव हि अत्र बहुना उक्तेन किं योगदृष्ट्या न किंचन ॥

८०६) सुगमः श्लोकः ॥ ८० ॥

८०७ ज्ञानिनश्चित्तं तु प्रार्थनानुतापादिविकाररहितत्वादमृतेनैव परमानंदेनैव पूरितमित्याह—

८०८
नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति ।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम् ॥८१॥

८०८] लाभं न एव प्रार्थयते अलाभेन न अनुशोचति धीरस्य चित्तं अमृतेन एव पूरितं शीतलं ॥

८०९) लाभं न प्रार्थयते । अलाभेन सुवर्णाद्यलाभेन नानुशोचति । अत एव धीरस्य चित्तममृतेनैव परमानंदेनैव पूरितं सत् शीतलमाध्यात्मिकादितापरहितमित्यर्थः ॥ ८१ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००

८१० उक्तप्रायमेवार्थं पुनःपुनर्भंगिविशेषेण वर्णयति । ज्ञानदशायाः सर्वोत्कृष्टत्वख्यापनाय—

८११
न शांतं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निंदति ।
समदुःखसुखस्तृप्तः किंचित्कृत्यं न पश्यति ८२

८११] निष्कामः शांतं न स्तौति न अपि दुष्टं निंदति तृप्तः समदुःखसुखः किंचित् कृत्यं न पश्यति ॥

८१२) निष्कामो विद्याकामकर्महीनो ज्ञानी शांतं शांत्यादिशुद्धसत्त्वगुणयुक्तं न स्तौति नापि दुष्टं निंदति। तृप्तः सन् समदुःखसुखो भवति। निष्कामत्वात्। किंचित्कृत्यं न पश्यति ॥८२॥

८१३
धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति ८३

८१३] धीरः संसारं न द्वेष्टि आत्मानं न दिदृक्षति हर्षामर्षविनिर्मुक्तः मृतः न च जीवति न ॥

८१४) धीरो ज्ञानी संसारं न द्वेष्टि। संसारादर्शित्वाद्बाधितानुसंधानाद्वा। तथा आत्मानं न दिदृक्षति। अवाप्तसाक्षात्कारत्वात्। अत एव हर्षामर्षविनिर्मुक्तः तथा जीवनमरणादिरहितः सदैकरूपत्वादित्यर्थः ॥ ८३ ॥

८१५
निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।
निश्चिंतः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः८४

८१५] निराशः बुधः शोभते पुत्रदारादौ निःस्नेहः

च विषयेषु निष्कामः स्वशरीरे अपि निश्चिंतः ॥

८१६) निराशो बुधः शोभते दीप्यते। कीदृशः। पुत्रदारादौ निःस्नेहः प्रीतिरहितः। विषयेषु निष्कामः भोगेच्छारहितः। स्वशरीरेऽपि भोजनादिचिंतारहितः ॥ ८४ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooooooo

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः।
स्वच्छंदं चरते देशान्यत्रास्तमितशायिनः ८५

८१७] धीरस्य यथापतितवर्तिनः सर्वत्र तुष्टिः चरते स्वच्छंदं देशान् यत्र अस्तमितशायिनः ॥

८१८) धीरस्य ज्ञानिनः। यथापतितेन यथाप्राप्तेन वर्तते तिष्ठति तस्य यथापतितवर्तिनः। सर्वत्र प्रारब्धप्राप्ते सदसद्वस्तुनि च तुष्टिः आत्मतोष एव चरतः तथा। स्वच्छंदं अनपेक्षितं प्रारब्धवशान्नाना-देशान् विचरतः यत्र वने वा नगरे वा सूर्योऽस्तमितः तत्रैव शायिनः शयनं कुर्वत एवेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

८१९ पततूदेतु वा देहो नास्य चिंता महात्मनः ।
स्वभावभूमिविश्रांतिविस्मृताशेषसंसृतेः ॥८६॥

८१९] देहः पततु वा उदेतु अस्य महात्मनः चिंता न स्वभावभूमिविश्रांतिविस्मृताशेषसंसृतेः ॥

८२०) देहः पततु म्रियतां वा अथवा उदेतु जीवतु वा । उभयथापि अस्य ज्ञानिनः चिंता न भवति । कीदृशस्य स्वभावो नाम निजात्मस्वरूपं स एव भूमिः तत्र विश्रांत्या विस्मृत-समस्तसंसारस्य ॥ ८६ ॥

---

८२१ अकिंचनः कामचारो निर्द्वंद्वश्छिन्नसंशयः ।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः॥८७॥

८२१] केवलः बुधः रमते अकिंचनः कामचारः निर्द्वंद्वः छिन्नसंशयः सर्वभावेषु असक्तः ॥

८२२) केवलो निर्विकारो बुधो रमते ।

कीदृशं । अकिंचनः नास्ति किंचित्परिगृहीतं यस्य सः अकिंचनः । अत एव कामचारः विधिनिषेधाद्यकिंकरः स्वच्छंदचारी । अत एव निर्द्वंद्वः सुखदुःखादिशून्यः । छिन्नसंशयः द्वैतसंशयशून्यः । सर्वेषु भावेषु विषयेषु असक्तः आसंगशून्य एवेत्यर्थः ॥ ८७ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

८२३
निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकांचनः ।
सुभिन्नहृदयग्रंथिर्विनिर्धूतरजस्तमः ॥ ८८ ॥

८२३] धीरः शोभते निर्ममः समलोष्टाश्मकांचनः सुभिन्नहृदयग्रंथिः विनिर्धूतरजस्तमः ॥

८२४) धीरो ज्ञानी शोभते दीप्यते । यतो निर्ममः । अत एव समलोष्टाश्मकांचनः ज्ञानबलेन सुभिन्नो हृदयग्रंथिः अहंकारो यस्य स तथा । विनिर्धूते रजस्तमसी यस्य सः ॥ ८८॥

८२५
सर्वत्रानवधानस्य न किंचिद्वासना हृदि ।
मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते ८९

८२५] सर्वत्र अनवधानस्य न किंचित् वासना हृदि मुक्तात्मनः वितृप्तस्य केन तुलना जायते ॥

८२६) सर्वत्र सर्वेषु विषयेषु अनवधानस्य एकाग्रतारहितस्य तथा न किंचिद्वासना हृदि मुक्तात्मनः कर्तृत्वाद्यध्यासरहितात्मनः अत एव आत्मानंदेन विशेषतस्तृप्तस्य केन तुलना जायते ज्ञानिव्यतिरिक्तस्य ईदृशस्याभावादित्यर्थः ॥ ८९ ॥

---

८२७ अतुलनामेव विशेषेण विशदयति—

८२८
जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते९०

८२८] निर्वासनात् ऋते अन्यः कः जानन् अपि न जानाति पश्यन् अपि न पश्यति ब्रुवन् अपि न च ब्रूते ॥

८२९) निर्वासनात् ज्ञानिनः ऋते अन्यः को लोकदृष्ट्या मनसा जानन्नपि वस्तुतो न जानाति । तथा चक्षुषा पश्यन्नपि वस्तुतो न पश्यति । ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कर्तृत्वाभिमानाभावादित्यर्थः ॥ ९० ॥

००००००००००००००००००००००००००००००

८३०
भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते ।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाशोभना मतिः ९१

८३०] यस्य भावेषु शोभनाशोभना मतिः गलिता यः निष्कामः सः भूपतिः वा भिक्षुः वा अपि शोभते ॥

८३१) यस्य ज्ञानिनः उत्कृष्टेषु भावेषु शोभना अपकृष्टेष्वशोभनत्वावगाहिनी मतिः गलिता । अत एव यो निष्कामः स भूपतिः जनकादिवत् । भिक्षुर्वा याज्ञवल्क्यादिवत् । शोभते एव । भावेषु निर्विकल्पत्वाद्राज्यं तस्य न बंधायेत्यर्थः ॥ ९१ ॥

क्व[832] स्वाच्छंद्यं क्व संकोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः
निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः९२

८३२] योगिनः निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य स्वाच्छंद्यं क्व संकोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः क्व ॥

८३३) योगिनः निर्व्याजं निष्कपटं यत् आर्जवं ऋजुबुद्धिस्तद्रूपस्य । आत्मनिष्ठत्वात् । चरितार्थस्य पूर्णार्थनाम्नः अर्थनाम्नो वा अन्यत्र स्वाच्छंद्यं स्वेच्छाचारित्वं क्व । तथा संकोचः प्रवृत्त्यादिसंचरणं क्व तत्त्वनिश्चयः क्व । कर्तृत्वं वा क्व । कर्तृत्वाध्यासाभावात् ॥ ९२ ॥

आ[834]त्मविश्रांतितृप्तेन निराशेन गतार्तिना ।
अंतर्यदनुभूयेत तत्कथं कस्य कथ्यते ॥९३॥

८३४] आत्मविश्रांतितृप्तेन निराशेन गतार्तिना यत् अंतः अनुभूयेत तत् कथं कस्य कथ्यते ॥

८३५) आत्मनि विश्रांत्या स्थित्या तृप्तेन

अत एवाशारहितेन अत एव गतार्तिना गत-दुःखेन ज्ञानिना यत् अंतःकरणे अनुभूयेत तत्कथं कं प्रकारं धर्ममाश्रित्य कथ्यते प्रकृत्यैव धर्मस्याभावात् । कस्य चाधिकारिणः तादृशाधि-कारिणोऽभावादित्यर्थः ॥ ९३ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००

८३६
सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः [८३९] पदे पदे९४

८३६] धीरः सुप्तः अपि सुषुप्तौ न च स्वप्ने अपि शयितः न च जागरे अपि जागर्ति न तृप्तः ॥

८३७) धीरः सुषुप्तौ न सुप्तः स्वप्नेऽपि शयितो न च जागरेऽपि न जागर्ति । अवस्थावती या बुद्धिस्तद्वियुक्तात्मज्ञानत्वात् ॥

८३८ अत एव इदमेवाभिप्रेत्याह—

८३९] पदे पदे ॥

८४०) क्षणेक्षणे अविरतं नित्यानंदानुभव-संतृप्तः ॥ ९४ ॥

ज्ञः[841] सचिंतोऽपि निश्चितः सेंद्रियोऽपि निरिंद्रियः
सुबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहंकारोऽनहंकृतिः ९५

८४१] ज्ञः सचिंतः अपि निश्चितः सेंद्रियः अपि निरिंद्रियः सुबुद्धिः अपि निर्बुद्धिः साहंकारः अनहंकृतिः॥

८४२) ज्ञो ज्ञानी लोकदृष्ट्या चिंतादिसहितोऽपि वस्तुतस्तद्रहितः । विविक्तात्मदर्शित्वादित्यर्थः ॥ ९५ ॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

न[843] सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न संगवान्
न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो न किंचिन्न च किंचन ९६

८४३] सुखी न वा च दुःखी न विरक्तः न संगवान् न मुमुक्षुः न वा मुक्तः न किंचित् न च किंचन न ॥

८४४) लोकगत्या सुखीत्यादिरूपोऽपि वस्तुतस्तद्रहितः अंतःकरणाध्यासरहितत्वात् । न विरक्तो विषये द्वेषाभावात् । न वा मुक्तः पूर्वमपि बंधनाभावात्तथा किंचिन्न । सदैकरूपत्वात् । तथा किंचन न । अनिर्वाच्यत्वात् ॥ ९६ ॥

विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान्।
जाड्येऽपि न जडो धन्यः पांडित्येऽपि न पंडितः

८९५] धन्यः विक्षेपे अपि विक्षिप्तः न समाधौ समाधिमान् न जाड्ये अपि जडः न पांडित्ये अपि पंडितः न ॥

८९६) धन्यो ज्ञानी लोकदृष्ट्या विक्षेपेऽपि वस्तुतो न विक्षिप्तः । स्वप्रकाशात्मानुभवात् । लोकदृष्ट्या समाधौ प्रतीयमानेऽपि न समाधिमान् । कर्तृत्वाध्यासाभावात् । लोकदृष्ट्या जाड्ये प्रतीयमाने अपि न जडः स्वानुभवशालित्वात् । लोकदृष्ट्या पांडित्ये प्रतीयमाने अपि न पंडितः पंडितोऽहमित्यभिमानाभावात् ॥ ९७ ॥

८४७मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्तव्यनिर्वृतः।
समः सर्वत्र वैतृष्ण्यान्न स्मरत्यकृतं कृतम् ९८

८४७] मुक्तः यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्तव्यनिर्वृतः सर्वत्र समः वैतृष्ण्यात् अकृतं कृतं न स्मरति ॥

८४८) मुक्तः प्रारब्धवशात् यथाप्राप्तस्थितौ सत्यामपि स्वस्थचित्तः तथा कृते पूर्वकृते कर्तव्ये च करिष्यमाणे कर्मणि निर्वृतः संतुष्टः अभिनिवेशोद्वेगशून्यः । अत एव च सर्वत्र समः वैतृष्ण्यात् । इदं अकृतं इदं च कृतं इति न स्मरति ॥ ९८ ॥

न ८४९प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनंदति ॥९९॥

८४९] वन्द्यमानः न प्रीयते निंद्यमानः न कुप्यति मरणे उद्विजति न एव जीवने अभिनंदति न ॥

८५०) कैश्चित्स्वस्मिन् वंद्यमानोऽपि न तुष्यति निंद्यमानोऽपि न कुप्यति । मरणे

उपस्थिते सति उद्वेगं न प्राप्नोति । आत्मनो नित्यत्वानुसंधानात् । अत एव जीवने सति नाभिनंदति न तुष्यति ॥ ९९ ॥

०००००००००००००००००००००००००००००००

न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशांतधीः ।
यथातथा यत्रतत्र सम एवावतिष्ठते ॥ १००॥

८५१] उपशांतधीः जनाकीर्णं न धावति न अरण्यं यथातथा यत्रतत्र समः एव अवतिष्ठते ॥

८५२) उपशांतधीः पुरुषः जनाकीर्णं प्रदेशं न अनुधावति । न अपि अरण्यं । सर्वत्र शांतत्वात् । यथातथा जनसंमर्देन तद्-संमर्दप्रकारेण वा यत्रतत्र वने वा पत्तने वा सम एव कस्थचित् एव अवतिष्ठते । आत्मा-त्मसाक्षात्कारत्वात् ॥ १०० ॥

इति श्रीमदष्टावक्रविरचितसंस्कृतटीकासहिताष्टावक्रगीतायां शांतिशतकं नामाष्टदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १८ ॥

॥ अथ आत्मविश्रांत्यष्टकं नामैकोनविंशं प्रकरणं प्रारभ्यते १९

साध्यसाधनरूपेण ज्ञाते ज्ञाने गुरोर्मुखात् ।
शिष्यश्चात्मनि विश्रांतिमष्टभिः प्राह सस्फुटम्॥१॥

८५३ एवं तत्त्वज्ञानिनः स्वभावभूतां शांतिं श्रुत्वा स्वकृतार्थतया गुरुं परितोषयितुमात्मविश्रांत्यष्टकं शिष्यः स्वयमाह—

तत्त्वविज्ञानसंदंशमादाय हृदयोदरात् ।
नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया ॥१॥

८५४] मया तत्त्वविज्ञानसंदंशं आदाय हृदयोदरात् नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतः ॥

८५५) हे गुरो मया भवतः सकाशात् तत्त्वविज्ञानोपदेशरूपं संदंशं लोहकारोपकरणं आदाय स्वहृदयोदरात् नानाविधपरामर्श एव यत् शल्यं तस्य उद्धारः अपहारः कृतः॥१॥

८५६ एतदेव स्पष्टयति—

क्व[८५७] धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता।
क्व द्वैतं क्व च वाऽद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे २

८५७] स्वमहिम्नि स्थितस्य मे विवेकिता क्व द्वैतं क्व च वा अद्वैतं क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व च अर्थः क्व ॥

८५८) धर्मार्थकामा अपि हृदयोदरान्निरस्ताः। क्षयिष्णुत्वादित्यर्थः। स्वमहिम्नि स्थितस्य मे मम विवेकिता क्व। द्वैतं वाद्वैतं च क्व। चिन्मात्रविश्रांतस्य विवेकानुपयोगात्। "उत्तीर्णे तु परे पारे नौकायाः किं प्रयोजनं" इति न्यायात्। द्वैतस्य च ज्ञानबाधितत्वात्। अद्वैतस्य द्वैतसापेक्षत्वेनास्वाभाविकत्वाद्विवेकादयोऽपि मम न संतीत्यर्थः ॥ २ ॥

८५९ क द्वैतमित्युक्तमेव विशेषतः प्रपंचयति–

क्व[860] भूतं क भविष्यद्वा वर्तमानमपि क वा ।
क देशः क च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे

८६०] नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे देशः क च वा भूतं क वा भविष्यत् क वा वर्तमानं अपि क ॥

८६१) कालस्यापि ममास्फूर्तेस्तदुपाधिका भूतभविष्यद्वर्तमाना अपि न संतीत्यर्थः । नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे देशः अपि नास्तीत्यर्थः ३

०००००००००००००००००००००००००००००

क्व[862] चात्मा क च वानात्मा क शुभं काशुभं तथा
क चिंता क च वाचिंता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे४

८६२] स्वमहिम्नि स्थितस्य मे चिंता क च वा अचिंता क च आत्मा क च वा अनात्मा क तथा शुभं क अशुभं क ॥

८६३) अतति व्याप्नोतीति आत्मा सर्वं व्याप्यमपेक्ष्य कथ्यते । स्वमहिम्नि स्थितस्य च ममात्मादिकं नास्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

८६४ स्वप्नः क सुषुप्तिर्वा क च जागरणं तथा ।
क तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥५॥

८६४] स्वमहिम्नि स्थितस्य मे तुरीयं क वा अपि भयं च स्वप्नः क वा सुषुप्तिः क तथा जागरणं क ॥

८६५) स्वप्नादयो बुद्धेरेवावस्था मम न संति। एतत्त्रितयाभावे तं निरूप्य तुरीयावस्थापि मम नास्ति । तथा भयादयोऽप्यंतःकरणधर्मा मम न संतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

---

८६६ दूरं क समीपं वा बाह्यं काभ्यंतरं क वा ।
क स्थूलं क च वा सूक्ष्मं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे६

८६६] स्वमहिम्नि स्थितस्य मे स्थूलं क च वा सूक्ष्मं क वा दूरं क समीपं क वा बाह्यं क अभ्यंतरं क ॥

८६७) सर्वत्र परिपूर्णस्य मम दूरसमीपादिकं नास्ति । पूर्णमात्रदर्शिनो मम स्थूलसूक्ष्मदृष्टिरपि नास्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

८६८
क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः कास्य क्व लौकिकं
क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे७

८६८] स्वमहिम्नि अस्य स्थितस्य मे लयः क्व वा समाधिः क्व मृत्युः क्व जीवितं क्व वा लोकाः क्व लौकिकं क्व ॥

८६९) कालत्रयेऽपि सद्रूपस्य मम जीवित-मरणे न स्तः। पूर्णमात्रदर्शिनोऽस्य मम लोका भूरादयो न संति। लौकिकं कार्यमपि नास्ति। पूर्णस्य मम लक्ष्ये लयः क्व च समाधिश्च क्व ७

८७० अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलम्।
अलं विज्ञानकथया विश्रांतस्य ममात्मनि ॥८

८७०] अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथया अपि अलं विज्ञानकथया अलं आत्मनि विश्रांतस्य मम ॥

८७१) धर्मार्थकाम-कथया योगाभ्यास-कथया विज्ञानकथया वा अलम्। आत्मनि विश्रांतस्य मम एतैः प्रयोजनाभावादित्यर्थः ॥८॥

इति श्रीमद्दिश्वे० आत्मविश्रांत्यष्टकं नामैकोन-विंशतिकं प्रकरणम् ॥ १९ ॥

॥ अथ शिष्यप्रोक्तं जीवन्मुक्ति-चतुर्दशकं नाम विंशतिकं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ २० ॥

आत्मविश्रांत्यभिव्यक्तिस्वभावां मुक्तिशालिनीम् ।
जीवन्मुक्तिदशां शिष्यश्चतुर्दशभिरब्रवीत् ॥ १ ॥

८७२ प्रागुक्तात्मविश्रांतेः फलीभूतां विदुषः स्वभावभूतां जीवन्मुक्तिदशां शिष्यश्चतुर्दशश्लोकै-र्निरूपयति—

८७३
क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेंद्रियाणि क्व वा मनः ।
८७६
क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरंजने ॥ १ ॥

८७३] निरंजने मत्स्वरूपे भूतानि क्व देहः क्व वा इंद्रियाणि क्व वा मनः क्व ॥

८७४) निरंजने सर्वोपाधिमलशून्ये मत्स्वरूपे भूतदेहेंद्रियमनांसि क्व ॥

८७५ तर्हि किं शून्यमस्ति नेत्याह—

८७६] शून्यं च न नैरात्म्यं च ॥

(८७७) न हि आत्मनि सति शून्यं संभवतीत्यर्थः । नापि नैरात्म्यं चापि स्वात्मविक्रं न । आत्मनित्यत्वादित्यर्थः ॥ १ ॥

---

८७८ शास्त्रं शास्त्रविज्ञानं च वा निर्विषयं मनः । च तृप्तिः च वितृष्णत्वं गतद्वन्द्वस्य मे कथम् ॥ २

८७८] कथं गतद्वन्द्वस्य मे शास्त्रं च शास्त्रविज्ञानं च वा निर्विषयं मनः च तृप्तिः च वितृष्णत्वं च ॥

(८७९) तथा गतद्वन्द्वस्य मे मम शास्त्रं च तज्जन्यं विज्ञानं च । आत्मनिश्चयात्मा सर्वस्य नास्तित्वभावत्वात् । निर्विषयं मनः चापि न । तस्यापि नास्तिभावत्वात् । अत एव तृप्तिरपि न । तथा तृप्तिसाध्यं वितृष्णात्वत्वमपि न । चित्तस्यैव नास्तिभावत्वादित्यर्थः ॥ २ ॥

क्व विद्या क्व च वाविद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वा ।
क्व बंधः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता २

८८०] विद्या क्व च अविद्या क्व वा अहं क्व इदं क्व वा मम क्व च वा बंधः क्व मोक्षः क्व ॥

८८१) मयि क्व विद्याहंकारधर्माः । इदं बाह्यं वस्तुजातं क्व ज्ञानं क्व । मम संबंधः क्व । द्वितीयस्य संबंधिनोऽभावात् । तथा बंधमोक्षावपि धर्मौ क्व ॥

८८२ अत्र हेतुमाह—

८८३] स्वरूपस्य रूपिता क्व ॥

८८४) निर्विशेषस्वरूपस्य मम रूपिता धर्मवत्ता क्व । तथा च । निर्विशेषे मयि न विद्यादयोऽपि धर्माः संतीति फलितार्थः ॥ २ ॥

८८५
क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि क्व वा।
क्व तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा ॥ ४॥

८८५] प्रारब्धानि कर्माणि क्व वा जीवन्मुक्तिः अपि क्व तत् विदेहकैवल्यं सर्वदा निर्विशेषस्य क्व ॥

८८६) क्व प्रारब्धानि कर्माणि । तथा जीवन्मुक्तिः तथा विदेहकैवल्यं एते धर्माः सदा निर्विशेषस्य मे न संतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

८८७
क्व कर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा
क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभावस्य मे सदा५

८८७] सदा निःस्वभावस्य मे अपरोक्षं क्व वा फलं क्व कर्ता क्व वा च भोक्ता क्व वा निष्क्रियं स्फुरणं क्व ॥

८८८) सदा निःस्वभावस्य मे कर्तृत्वभोक्तृत्वनिष्क्रियस्फुरणानि क्व । अत एव अपरोक्षं वृत्तिरूपं च ज्ञानं क्व । फलं विषयावच्छिन्नं यत्फलं चैतन्यं क्व इत्यर्थः ॥ ५ ॥

८८९
क्व लोकः क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा
क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥६

८८९] अहमद्वये स्वस्वरूपे लोकः क्व वा मुमुक्षुः क्व योगी क्व ज्ञानवान् क्व वा बद्धः क्व वा मुक्तः क्व च ॥

८९०) अहं इत्येवं रूपे अद्वये अहमद्वये आत्माद्वैते स्वस्वरूपे सति लोकः क्व मुमुक्षुः क्व योगी क्व ज्ञानवान् अपि बद्धः क्व मुक्तश्च क्वेत्यर्थः ॥ ६ ॥

oooooooooooooooooooooooooooooooo

८९१
क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥७॥

८९१] अहमद्वये स्वस्वरूपे साधकः क्व वा सिद्धिः क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनं क्व ॥

८९२) अहमद्वये आत्माद्वैते स्वस्वरूपे सति सृष्टिसंहारौ साध्यसाधने साधकः सिद्धिर्वा क्व ॥ ७ ॥

८९३
क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा ।
क्व किंचित्क्व न किंचिद्वा सर्वदा विमलस्य मे ८

८९३] सर्वदा विमलस्य मे किंचित् क्व वा न किंचित् क्व प्रमाता क्व प्रमाणं क्व वा प्रमेयं क्व च प्रमा क्व ॥

८९४) सर्वदा विमलस्य उपाधिसंबंधमलशून्यस्य मे प्रमातृप्रमाणप्रमेयप्रमासंबंधः क्व । मम किंचित्सामान्यतोऽन्यत्पदार्थमात्रं क्व । न च किंचिद्वा क्व । पदार्थभावेऽपि मम क्व । सर्वथा संबंधशून्यत्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥

८९५
क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता ।
क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे ९

८९५] सर्वदा निष्क्रियस्य मे हर्षः क्व वा विषादः क्व विक्षेपः क्व च एकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता क्व ॥

८९६) सर्वदा निष्क्रियस्य मे विक्षेपादिका क्रिया क्वेत्यर्थः ॥ ९ ॥

८९७
क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता ।
क्व सुखं क्व च वा दुःखं निर्विमर्शस्य मे सदा १०

८९७] सदा निर्विमर्शस्य मे एषः व्यवहारः क्व च वा सा परमार्थता क्व च सुखं क्व च वा दुःखं क्व ॥

८९८) सदा निर्विमर्शस्य विशेषतो वृत्तिज्ञान-शून्यस्य व्यवहारो व्यावहारिकपदार्थज्ञानं क्व । परमार्थता-ज्ञानं च क्व । सुखदुःखादिकमपि क्वेत्यर्थः॥

ooooooooooooooooooooooooooooooo

८९९
क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा ।
क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे ॥११

८९९] सर्वदा विमलस्य मे माया क्व च संसारः क्व वा प्रीतिः क्व विरतिः क्व च जीवः क्व तत् ब्रह्म क्व ॥

९००) सर्वदा विमलस्य उपाधिमलशून्यस्य मे मायासंसारौ प्रीतिर्विरतिश्च वैराग्यं क्व । जीवभावो ब्रह्मभावश्च क्व । कार्योपाध्यभावे जीवत्वस्य वक्तुमशक्यत्वाद्व्याप्यवस्तूनामभावे ब्रह्मत्वस्य च वक्तुमशक्यत्वादित्यर्थः ॥ ११ ॥

१०१
क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्व च वंधनम् ।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा १२

९०१] कूटस्थनिर्विभागस्य सर्वदा स्वस्थस्य मम प्रवृत्तिः क्व वा निवृत्तिः क्व मुक्तिः क्व च बंधनं क्व ॥

९०२) कूटस्थस्य निष्क्रियस्य तथा निर्विभागस्य भेदरहितस्य सर्वदा स्वस्थस्य मम प्रवृत्तिनिवृत्ती क्व । मुक्तिबंधने च केत्यर्थः ॥१२

ooooooooooooooooooooooooooooooooooo

९०३
कोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः
क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे१३

९०३] निरुपाधेः शिवस्य मे उपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः क्व वा पुरुपार्थः क्व च अस्ति॥

९०४) निरुपाधेः उपाधिशून्यस्य तथा शिवस्य नित्यानंदस्वरूपस्य उपदेश-क्रिया क्व । उपदेशकं शास्त्रं च क्व । मायाद्युपाध्यभावे तत्कृतोपदेशस्य चाभावात् । अत एव शिष्यः गुरुश्च क्व । स्वयं शिवस्वरूपस्य च पुरुषार्थो वा क्व चास्ति॥१३

९०५ जीवन्मुक्तदशामुपसंहरति—

क्व^१^०^६ चास्ति क्व च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयं
ब^१^०^९ हुनात्र किमुक्तेन किंचिन्नोत्तिष्ठते मम ॥ १४

९०६] मम क्व च अस्ति च वा नास्ति क्व अस्ति क्व च एकं वा च द्वयं क्व ॥

९०७) मम अस्ति इति न स्फुरति। असत्वापेक्षत्वात् सत्त्वस्य । तथा नास्ति इत्यपि न स्फुरति सत्वापेक्षत्वान्नास्तित्वस्य । अत एव मिथः सापेक्षत्वाच्चैकत्वद्वित्वेऽपि मम न स्तः। प्रत्येकं व्यक्तिभेदेन निषेधस्य कल्पकोटिभिरपि वक्तुमशक्यत्वात् ॥

९०८ सामान्यत आह—

९०९] अत्र बहुना उक्तेन किं किंचित् न उत्तिष्ठते ॥

९१०) बहुना उक्तेन किं प्रयोजनं मम चिदेकरूपस्य किंचिद् अपि नोत्तिष्ठते न प्रकाशत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

इति शिष्यप्रोक्तं जीवन्मुक्तिचतुर्दशकं नाम विंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २० ॥

॥ अथ संख्याक्रमव्याख्यानं नामैकविंशतितमं प्रकरणं प्रारभ्यते ॥ २१ ॥

विनये बुद्धिसौकर्यमुद्दिश्य ग्रंथकृत्स्वयम् ।
श्लोकसंख्यां पुरस्कृत्य प्राहानुक्रमणीं स्फुटाम् ॥१॥

देशं षट् चोपदेशे स्युः श्लोकाश्च पंचविंशतिः ।
सत्यात्मानुभवोल्लासे उपदेशे चतुर्दश ॥ १ ॥

९११] षट् दश श्लोकाः उपदेशे स्युः च पंचविंशतिः सत्यात्मानुभवोल्लासे उपदेशे चतुर्दश च ॥

९१२) षट् दश षोडश श्लोकाः गुरुणोपदेशे स्युः संति प्रथमे प्रकरणे । पंचविंशतिः श्लोकाः शिष्योक्तानुभवोल्लासे द्वितीयप्रकरणे स्युः । चतुर्दश श्लोकाः पुनर्गुरुणाक्षेपमुद्रयोक्तोपदेशाख्ये तृतीयप्रकरणे स्युः ॥ १ ॥

९१३
पंडुल्लासे लये चैवोपदेशे च चतुश्चतुः ।
पंचकं स्यादनुभवे बंधमोक्षे चतुष्ककम् ॥२॥

९१३] षट् उल्लासे चतुः च लये च चतुः उपदेशे च अनुभवे एव पंचकं बंधमोक्षे चतुष्ककं स्यात् ॥

९१४) षट् श्लोकाः शिष्यप्रोक्तानुभवोल्लासे चतुर्थप्रकरणे स्युः । चत्वारः श्लोका गुरुप्रोक्ते लयाख्ये पंचमे प्रकरणे स्युः । पुनश्चत्वारः श्लोका गुरुप्रोक्ते प्रतिवादिसिद्धलयनिषेधोपदेशाख्ये षष्ठे प्रकरणे स्युः । श्लोकानां पंचकं शिष्यप्रोक्तेऽनुभवाख्ये सप्तमे प्रकरणे स्यात् । श्लोकानां चतुष्कं गुरुप्रोक्ते बंधमोक्षेऽष्टमे प्रकरणे स्यात् ॥ २ ॥

९१५
निर्वेदोपशमे ज्ञाने एवमेवाष्टकं भवेत् ।
यथासुखे सप्तकं च शांतौ स्याद्वेदसंमितम् ३

९१५] अष्टकं निर्वेदोपशमे एवं एव ज्ञाने भवेत् यथा सुखे च शांतौ सप्तकं वेदसंमितं स्यात् ॥

९१६) श्लोकाष्टकं गुरुप्रोक्ते निर्वेदाख्ये नवमे

प्रकरणे स्यात् । गुरुप्रोक्तमुपशमाष्टकं नाम दशमं प्रकरणम् । गुरुप्रोक्तं ज्ञानाष्टकं नामैकादशं प्रकरणम् । शिष्यप्रोक्तं एवमेवाष्टकं नाम द्वादशं प्रकरणम् । शिष्यप्रोक्तं यथासुख-सप्तकं नाम त्रयोदशं प्रकरणम् । शिष्यप्रोक्तं शांतिचतुष्कं नाम चतुर्दशं प्रकरणम् ॥ ३ ॥

तत्त्वोपदेशे विंशच्च दश ज्ञानोपदेशके ।
तत्त्वस्वरूपे विंशच्च शमे च शतकं भवेत् ॥ ४

९१७] विंशत् तत्त्वोपदेशे च दश ज्ञानोपदेशके विंशत् च तत्त्वस्वरूपे शमे च शतकं भवेत् ॥

९१८) विंशति श्लोकाः गुरुप्रोक्ते तत्त्वोपदेश-आख्ये पंचदशे प्रकरणे स्युः । दश श्लोका गुरुप्रोक्ते विशेषोपदेशाख्ये षोडशे प्रकरणे स्युः । विंशति श्लोकाः गुरुप्रोक्तास्तत्त्वज्ञस्वरूपोपदेशाख्ये सप्तदशे प्रकरणे स्युः । गुरुप्रोक्तं शमशतकं नामाष्टादशं प्रकरणम् ॥ ४ ॥

अष्टकं चात्मविश्रान्तौ जीवन्मुक्तौ चतुर्दश ।
षट् संख्याक्रमविज्ञाने ग्रंथैकात्म्यं ततः परम् ॥५॥

३३१] आत्मविश्रान्तौ च अष्टकं जीवन्मुक्तौ चतुर्दश संख्याक्रमविज्ञाने षट् ततः परं ग्रंथैकात्म्यम् ॥

१२०) ततोऽप्यात्मविश्रान्त्यष्टकं नाम एकोनविंशतितमं प्रकरणम् । ततोऽपि जीवन्मुक्तिचतुर्दशकं नाम विंशतितमं प्रकरणम् । षडुक्तं संख्याक्रमकथनं नामैकविंशतिकं प्रकरणम् । ततः परं विंशत्येकमितैः खण्डैः श्लोकैर्ग्रंथैकात्म्यं संख्यायंथकज्ञानं चैकात्म्यं चतुर्दशप्रकरणनिर्णयः ॥ ५ ॥

विंशत्येकमितैः खण्डैः श्लोकैरात्मादिमध्यगैः ।
अवधूतानुभूतेश्च श्लोकाः संख्याक्रमा अमी ॥६॥

३३२] विंशति एकमितैः खंडैः श्लोकैः आत्मादिमध्यगैः ॥

९२२) क्रियद्भिः खंडैः विंशत्येकमितैः एकविंशतिखडैरित्यर्थः । कियद्भिः श्लोकैः आत्माग्निमध्यखैः जीवात्मपरमात्मभेदभिन्नावात्मानौ द्वौ । अग्नयस्त्रयः मध्ये खं च मध्ये शून्यम् । अंकानां वामतो गतिरिति न्यायात् अंते द्वौ मध्ये खं आदौ च त्रयं ३०२ द्व्यधिकैस्त्रिशतश्लोकैरित्यर्थः ॥

९२३ श्लोकसंख्यामुपसंहरति—

९२४] अवधूतानुभूतेः च संख्याक्रमाः श्लोकाः अमी॥

९२५) अवधूतानुभूतिरूपोऽयं ग्रंथस्तस्य संख्यांक्रमो विद्यते येषु ते संख्याक्रमा ईदृशाः श्लोका अमी कथिता इत्यर्थः ॥ ६ ॥

इति श्रीमद्विश्वेश्वरविरचितटीकासहिताष्टावक्रगीतायां संख्याक्रमव्याख्यानं नामैकविंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २१ ॥

॥ समाप्तेयमष्टावक्रगीता ॥

॥ अथ अष्टावक्रगीता भाषाटीका प्रारभ्यते ॥

॥ आत्मानुभवोपदेशकथनं नाम प्रथमं प्रकरणम् ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

सत् चित् आनंद इकचित । अज आपार वरिष्ठ ॥
ताहि नमस्कार कीजिए । करूं भास यह इष्ट १

॥ जनक उवाच ॥

जनक राजा पूछताहै कि:-हे प्रभो ! पुरुष ज्ञानकूं कैसें पावताहै औ मुक्ति कैसें होवैगी औ वैराग्य कैसें प्राप्त होवैहै । यह तुम मेरं अर्थ कहो ॥ १ ॥

॥ अष्टावक्र उवाच ॥

॥ १ ॥ अष्टावक्रमुनि उत्तर देतेहैं:– हे[3] तात! जो तूं मुक्तिकूं इच्छताहै। तौ विषयन-कूं विषकी न्याईं त्याग कर औ क्षमा[6] आर्जव दया संतोष अरु सत्यकूं अमृतकी न्याईं सेवन कर ॥ १ ॥

॥ २ ॥ हे शिष्य! तूं पृथ्वी नहीं है। वा जल नहीं है। वा अग्नि नहीं है। वा वायु नहीं है। वा आकाश नहीं है। इनके साक्षी आत्माकूं मुक्तिके अर्थ चेतन[15]रूप जान ॥ २ ॥

॥ ३ ॥ हे शिष्य! जैव तूं देहकूं न्याराकरिके चेतनविषै विश्रामकरिके स्थित होता है। तब अबीहीं सुखी शांत औ बंधतैं मुक्त होवैगा ॥ ३ ॥

॥ ४ ॥ हे शिष्य! तूं[22] विप्रादिकवर्ण नहीं

है औ आश्रमवाला नहीं है औ इंद्रियनका विषय नहीं है। किंतु असंग निराकार विश्वका साक्षी तूं है। यातें सुखी हो ॥ ४ ॥

॥ ५ ॥ हे विभो कहिये परिपूर्ण! धर्म-अधर्म सुखदुःख मनके धर्म हैं। तेरे नहीं। यातें तूं कर्त्ता नहीं है औ भोक्ता नहीं है। किंतु सर्वदा मुक्तही है ॥ ५ ॥

॥ ६ ॥ हे शिष्य! तूं सर्वका द्रष्टा एक है औ सर्वदा अतिशयमुक्त है ॥ निश्चित यहहीं तेरेकूं बंध है। क्योंकिः— जो इतर-देहादिरूपकूं द्रष्टा देखताहै ॥ ६ ॥

॥ ७ ॥ हे शिष्य! तूं जातें "मैं कर्ता हूं" इस प्रकारके अहंमानरूप महान् कालसर्प-करिके दंशित भयाहै। यातें "मैं कर्ता नहीं हूं"। इसप्रकारके विश्वासरूप अमृतकूं पानकरिके सुखी हो ॥ ७ ॥

॥ ८ ॥ "ऐंक विशुद्ध बोधरूप मैं हूं"। इसप्रकारके निश्चयरूप अग्निसैं अज्ञानरूप वनकूं अतिशयदग्ध करीके शोकरहित हुया सुखी हो ॥ ८ ॥

॥ ९ ॥ जिसैं बोधविषै यह विश्व रज्जु-सर्पकी न्यांई कल्पित भासताहै । सो बोधरूप तूं सुख जैसैं होवै तैसैं विचर ॥ फेर तूं कैसा है किः—मनुष्यादिकनके आनंदन-तैं परम कहिये उत्कृष्ट आनंदरूप है ॥ ९ ॥

॥ १० ॥ मुक्ताभिमानी मुक्त है औ बद्धा-भिमानी बद्ध निश्चित है ॥ " जो कहिये जैसी मति है सो कहिये तैसी गति होवै" यह प्रसिद्ध विद्वत्जनोंकी श्रुति सत्य है ॥१०॥

॥ ११ ॥ आत्मा । भ्रमतैं संसार-वान्की न्याई प्रतीत होवैहै । वस्तुतैं संसारी नहीं । जातैं साक्षी है । विभू कहिये सर्वका

अधिष्ठान है। पूर्ण है। एक है। मुक्त है। चेतन है। अक्रिय है। असंग है। निःस्पृह है। औ शांत है ॥ ११ ॥

॥ १२ ॥ हे शिष्य! "[६८]मैं आभास कहिये अहंकार हूं" इस भ्रांतिकूं छोडिके औ बाह्यभावकूं छोडिके औ आंतरभावकूं छोडिके। कूटस्थ बोधरूप अद्वैतआत्माकूं च्यारीओरतैं चिंतन कर ॥ १२ ॥

॥ १३ ॥ [६९]हे पुत्र! तूं जातैं देहाभिमानरूप पाशसैं बहुकालका बांध्याहै। यातैं "मैं बोधरूप हूं"। इस ज्ञानरूप खड्गसैं तिस पाशकूं छेदिके सुखी हो ॥ १३ ॥

॥ १४ ॥ हे शिष्य! [७०]तूं वस्तुतैं निःसंग है। क्रियारहित है। स्वयंप्रकाश है। निरंजन है। यातैं जो समाधिकूं अनुष्ठान करताहै यहहीं तेरेकूं बंध है ॥ १४ ॥

॥ १५ ॥ हे शिष्य ! यँह विश्व तेरेसैं व्याप्त है औ तुजविषै परोया है। तूं परमार्थतैं शुद्ध चेतनस्वरूप है। यातैं विपरीतचित्त-वृत्तिकूं मत कर ॥ १५ ॥

॥ १६ ॥ हे शिष्य ! तूं वस्तुतैं निरपेक्ष कहिये षट्ऊर्मितैं रहित है। औ निर्विकार है। औ निर्भर कहिये चिद्घनरूप है। औ शीतल अरु आशय कहिये मुक्तिको व्यापिके स्थित है। औ अगाध ऐसी चेतनस्वरूप बुद्धिरूप है। औ अविद्याकृत क्षोभतैं रहित है। यातैं चेतन-मात्रविषै निष्ठावाला हो ॥ १६ ॥

॥ १७ ॥ सँाकार कहिये शरीरादिककूं मि-थ्यारूप जान। औ निराकार कहिये आत्म-तत्त्वकूं तो निश्चल कहिये नित्य जान। इस तत्त्वके उपदेशसैं अपुनर्भव कहिये मोक्षका संभव होवैहै ॥ १७ ॥

॥ १८ ॥ जैसैंहीं दर्पणके मध्यस्थित कहिये प्रतिबिंबित रूप कहिये शरीरादिकविषै भीतर बाहिर सो दर्पण व्यापिके वर्तताहै। तैसैंहीं इस शरीरविषै भीतर बाहिर परमेश्वर कहिये चिदात्मा व्यापिके स्थित है ॥१८॥

॥ १९ ॥ जैसैं सर्वगत एक कहिये प्रलयपर्यंत स्थायि होनेतैं नित्य आकाश घटविषै बाहिर भीतर वर्तताहै। तैसैं नित्य कहिये अविनाशिब्रह्म सर्वभूतोंके समूहविषै बाहिर-भीतर सर्वदा वर्तताहै ॥ १९ ॥

इति श्रीपंडितपीतांबरविरचितायामष्टावक्रगीताभाषाटीकाया-मात्मानुभवोपदेशनामकं प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १ ॥

॥ शिष्यानुभवस्थितिकथनं नाम द्वितीयं प्रकरणम् ॥ २ ॥

॥ दोहा ॥

अस गुरु उक्ती सुधारस। अनुभव आपन आस ॥
सह अचरज भाषन लग्यो। शिष्य सु निज गुरु पास १

॥ २० ॥ अहो कहिये आश्चर्य है कि मैं निरंजन हूं। शांत हूं। बोधरूप हूं। प्रकृतितैं पर हूं। इतने काल तोडी मैं मोहकरिकें ठगायाथा ॥ १ ॥

॥ २१ ॥ मैं एकहीं जैसैं जगत्कूं प्रकाशताहूं तैसैं इस देहकूं प्रकाशताहूं। यांतैं सर्वजगत् मेरा कहिये मुजविषै [illegible] है। अथवा कछु बी मेरा नहीं [illegible] मुंजविषै अपवादकूं पायाहै ॥ २ ॥

॥ २२ ॥ [१] अहो कहिये आश्चर्य है कि अब मेरेकरिके शरीरसहित विश्वकूं परित्याग कहिये निषेध करिके किसीवी कुशलतातैं परमात्मा देखीताहै ॥ ३ ॥

॥ २३ ॥ [११३] जैसैं तरंग फेन औ बुद्बुद जलतैं भिन्न नहीं। तैसैं आत्मातैं उपज्या विश्व आत्मातैं भिन्न नहीं ॥ ४ ॥

॥ २४ ॥ [११६] जैसैं पट विचारसैं देख्याहुया तंतुमात्र होता हीं है। तैसैं यह विश्व विचाऱ्याहुया आत्मसत्तामात्ररूप है ॥ ५ ॥

॥ २५ ॥ [११७] जैसैंहीं इक्षु कहिये घन्नाके रसविषै कल्पित शर्करा तिसी मधुररससैं व्याप्त है। तैसैंहीं मेरेविषै कल्पित विश्व मेरेसैं निरंतर कहिये बाहिरभीतर व्याप्त है ॥ ६ ॥

॥ २६ ॥ आत्माके अज्ञानतें जगत् भासताहै । आत्माके ज्ञानतें नहीं भासता । जैसें रज्जुके अज्ञानतें सर्प भासताहै औ ता रज्जुके ज्ञानतें निश्चित नहीं भासता ॥ ७ ॥

॥ २७ ॥ प्रकाश कहिये नित्यबोध मेरा निजरूप है । मैं ता प्रकाशतें न्यारा नहीं हूं । यातें मेरेकूं जब विश्व प्रकाशता कहिये भासताहै । तब अहंभास कहिये आत्मप्रकाशतें हीं भासताहै ॥ ८ ॥

॥ २८ ॥ अहो कहिये यह आश्चर्य है । मुजविषै अज्ञानतैंहीं कल्पित विश्व भासताहै । जैसें सीपीविषै रूप्य औ रज्जुविषै सर्प औ सूर्यकिरणविषै जल कहिये मृगजल भासताहै । ताकी न्यांई ॥ ९ ॥

॥ २९ ॥ यहं विश्व मुजतैं उपज्या-है औ मुंजविषै लयकूं पावताहै । जैसैं मृत्तिकाविषै घट औ जलविषै लहरी औ कनकविषै कटक कहिये कडानामक हस्तभूषण है । तैसैं ॥ १० ॥

॥ ३० ॥ मैं अहो कहिये आश्चर्यरूप हूं । औ ब्रह्मासैं आदिलेके स्तंबपर्यंत जगत्के नाश हुवे बी । स्थित होनैवाले जिस मेरा विनाश नहीं है । यातैं मेरे अर्थ नमस्कार है ॥ ११ ॥

॥ ३१ ॥ मैं अहो हूं । तिस मेरे तांई नमस्कार है । जातैं देहवान हुयाबी मैं एक हूं । कहांतैं जानैवाला नहीं औ कहांतैं आवनैवाला नहीं किंतु विश्वके प्रति व्यापिके स्थित हूं ॥ १२ ॥

॥ ३२ ॥ [१४८]मैं अहो कहिये आश्चर्यरूप हूं । यातैं मेरे तांई नमस्कार है । औ जातैं इहां मेरे तुल्य चतुर नहीं है । जिस हेतुसैं मैंनें शरीरके साथि संबंध न करिके चिरकाल-पर्यंत विश्व धारण कियाहै ॥ १३ ॥

॥ ३३ ॥ [१४९]मैं अहो हूं । तिस मेरेतांई नमस्कार है । जातैं जिस मेरा कछुवी नहीं है। अथवा जिस मेरा यह जो वाणी मनका विषय है सो सर्व है ॥ १४ ॥

॥ ३४ ॥ [१५२]ज्ञान ज्ञेय तथा ज्ञाता यह तीन वास्तव नहीं हैं । तौवी जिसविषै यह अज्ञानतैं भासताहै सो निरंजन मैं हूं ॥ १५ ॥

॥ ३५ ॥ [१५५]अहो कहिये आश्चर्य है कि द्वैत कहिये जगद्भ्रांति है मूल कहिये का-रण जिसका ऐसा यह दुःख है । औमल

चिद्रूसरूप एक मैं हूं । औ यह प्रतीयमान दृश्य सर्व मिथ्या है । इस बोधतैं अन्य तिस त्रिविधदुःखरूप व्याधिका औषध नहीं है ॥ १६ ॥

॥ ३६ ॥ बोधमात्ररूप मैं हूं । औ मैंनें अज्ञानतैं उपाधि कहिये अहंकारादिद्वैतप्रपंच कल्प्याहै । ऐसैं नित्य विचार करनैवाले मुजकूं निर्विकल्प स्वस्वरूपविषै स्थिति भई ॥ १७ ॥

॥ ३७ ॥ वस्तुतैं मुजकूं बंध वा मोक्ष नहीं है । अहो मेरेविषै स्थित बी विश्व वस्तुतैं तीनकाल मेरेविषै स्थित नहीं । ऐसैं विचारनेहारे बी मेरेकूं निराश्रय कहिये निर्मूल भ्रांति हीं शांत भई । स्वस्वरूप होनैतैं नित्यप्राप्त जो परमानंद ताकी प्राप्ति भई नहीं ॥ १८ ॥

॥ ३८ ॥ [१७३]शरीरसहित यह विश्व कछु वी सत् वा असत् नहीं है। ऐसैं निश्चित है। औ आत्मा चेतनमात्र अरु शुद्ध है। तिस कारणतैं अब अज्ञानकी निवृत्तिके हुये किसविषै विश्वकी कल्पना होवै। किसी-विषै वी बनै नहीं ॥ १९ ॥

॥ ३९ ॥ [१७८]शरीर स्वर्ग नरक बंध मोक्ष तथा भय। यह कल्पनामात्रहीं हैं। चेतनरूप मुजकूं इससैं क्या कार्य है ॥२०॥

॥ ४० ॥ [१७९]देखनैवाले मुजकूं द्वैत नहीं है। यह अहो कहिये आश्चर्य है। जनोंके समूहविषै वनकी न्यांई भयाहै। मैं कहां प्रीतिकूं करूं। कहां वी नहीं ॥ २१ ॥

॥ ४१ ॥ [१८२]मैं देह नहीं औ मेरा देह नहीं। मैं जीव कहिये अंतःकरण-विशिष्टचेतन नहीं किंतु मैं [१८५]चेतन हूं। [१८८]जो

जीवित कहिये जीवनेविषै इच्छा थी यह-हीं मुजकूं बंध था। अब सच्चिदानंदके अनुभव-वाले मुज असंगकूं प्राणोंके संबंधमय बंधनरूप जीवनविषै इच्छा नहीं ॥ २२ ॥

॥ ४२ ॥ [११३]अहो कहिये आश्चर्य है किः— अपार महासमुद्ररूप मुजविषै चित्तरूप पवनके उत्पन्न हुए नानाप्रकारके भुवनरूप तरंगोंकरिके अत्यंत उदय पाया ॥ जैसें समुद्रतें तरंग। तैसें मुजतें भुवन वस्तुतें भिन्न नहीं है। यह अर्थ है ॥ २३ ॥

॥ ४३ ॥ प्रारब्धके क्षयकी अवस्थाकूं कहै-हैः— [११४]सर्वव्यापक चेतन समुद्ररूप मुज-विषै चित्तरूप पवनके शांत कहिये संक-ल्पादिरहित भए। जीवरूप वणिक कहिये व्यापारीका प्रारब्धके क्षयरूप विपरीतपवनतें

जगत्रूप समुद्रगत खरावेविषै लग्याहुया शरीरादिरूप **नौकाका समूह विनाशवान्** होवैहै ॥ २४ ॥

॥ ४४ ॥ आँश्चर्य है कि:— अपार **महासमुद्ररूप मुजविषै जीवरूप तरंग** । अविद्या काम कर्मरूप **स्वभावके** वशतैं **उदय** होतेकी न्याईं हैं । औ परस्पर शत्रुभावके अध्यासतैं **ताडन करतेकी** न्याईं हैं । औ अन्य । मित्रभावके अध्यासतैं परस्पर **खेलतेकी** न्याईं हैं । औ अविद्या काम कर्मके क्षय भये मुजविषै **प्रवेश करते**की न्याईं हैं ॥ २५ ॥

॥ दोहा ॥

इस दूसर परकरनमैं शिषनैं अनुभव थीत ॥
गुरु संतोष लिये कही अचरंज पूर्व अमीत ॥१॥

इति श्रीपंडितपीतांवरविरचितायामष्टावक्रभाषाटीकायां शिष्योक्तमात्मानुभवोल्लासपंचविंशतिकं नाम द्वितीयं प्रकरणं ॥

आक्षेपद्वारोपदेशचतुर्दशकं नाम तृतीयं प्रकरणम् ॥ ३ ॥

॥ दोहा ॥

अब गुरु सिष अनुभव सुधा। जानी करुणा योग
ज्ञान परीक्षाके लिये। पुन भाषत थितियोग ॥१॥

॥ ४५ ॥ हे[२००] शिष्य! अविनाशी औ एक-आत्माकूं जानिके कहिये निदिध्यासन करिके यथार्थरूपतैं आत्मज्ञानी औ याहीतैं धैर्यवाले तुजकूं व्यावहारिकअर्थके संग्रहविषै कैसैं प्रीति देखियेहै? ॥ १ ॥

॥ ४६ ॥ अहो[२०३]! हे शिष्य! भ्रांति-ज्ञानके गोचर विषयविषै जो प्रीति है। सो आत्माके अज्ञानतैंहीं होवैहै। जैसैं[२०६] रूपेकी भ्रांतिके हुये सीपीके अज्ञानतैं लोभ होवैहै। तैसैं ॥ २ ॥

॥ ४७ ॥ सागरविषै तरंगनकी न्यांई जहां यह विश्व भिन्नसत्तारहित हुया भासताहै। सो तत्पदका अर्थरूप परमात्मा मैं हूं। ऐसैं जानिके दिनकी न्यांई क्या दौडताहै। नहीं दौडताहै। यह अर्थ है ॥ ३ ॥

॥ ४८ ॥ शुद्धचैतन्यरूप औ अतिसुंदर आत्माकूं सुनिके वी कहिये गुरुमुखद्वारा वेदांतवाक्यतैं साक्षात्करिके वी उपस्थ कहिये समीपस्थितविषयविषै अत्यंतआसक्त हुआ आत्मज्ञानी कैसैं मलिनता कहिये मूढताकूं पावताहै? ॥ ४ ॥

॥ ४९ ॥ ब्रह्मासैं लेके स्थावरतोडी सर्वभूतनविषै आत्माकूं अधिष्ठानरूप जाननैवाले औ सर्वभूतनकूं आत्माविषै रज्जुमैं सर्पकी न्यांई अध्यस्त जाननैवाले मुनिकूं विषयनविषै जो ममत्व वर्त्तता है। यह आश्चर्यहै ॥ ५ ॥

॥ ५० ॥ परमअद्वैतके प्रति आस्था-वाला कहिये दृढअनुभव करताहुआ औ मोक्षरूप अर्थ कहिये पुरुषार्थरूप कार्यविषै तत्पर हुआ भी कामके वशकूं प्राप्त हुआ नानाक्रीडाके अभ्यासमें विकल कहिये व्याकुल होवैहै। यह आश्चर्य है॥ ६॥

॥ ५१ ॥ उद्भवकूं प्राप्त भये कामकूं ज्ञानका अत्यंत वैरी निश्चय करिके भी। अतिदुर्बलकी न्याईं हुआ ज्ञानी। काम कहिये विषयकूं इच्छताहै। यह आश्चर्य है। जो ज्ञानी ऐसा है कि अंतकालके समीपवर्ती है॥ ७॥

॥ ५२ ॥ इहलोकपरलोकके भोगविषै विरक्त औ नित्यअनित्यके विवेकी औ मोक्ष कहिये परिपूर्णताविषै है काम कहिये इच्छा जिसका। तिस इसप्रकारके ज्ञानीकूं भी मोक्षतैंहीं कहिये स्वरूप देहपातके वियोगतैंहीं भय होवैहै। यह आश्चर्य है॥ ८॥

॥ ५३ ॥ धीर[२२४] कहिये ज्ञानी तौ लोकोंकरिके विषयनकूं भोगताहुआ वी औ पीडाकूं पावताहुआ वी सर्वदा आत्माकूं केवल कहिये सुखदुःखके भोगादिकसैं रहित देखता-हुआ तोष कहिये प्रसन्नताकूं पावता नहीं औ कोप कहिये रोषकूं पावता नहीं ॥ ९ ॥

॥ ५४ ॥ चेष्टा[२२७] करनैवाले स्वशरीरकूं अन्यशरीरकी न्यांई आत्मातैं भिन्न। जो देखताहै सो महाशय कहिये गभीरमनवाला स्तुतिविषै वी औ निंदाविषै वी कैसैं क्षोभ कहिये तोषरोषरूप विकारकूं पावैगा? नहीं पावैगा। यह सारे आक्षेपका अर्थ है ॥ १० ॥

॥ ५५ ॥ ईसैं[२३०] मारणे योग्य अरु मारकरूप विश्वकूं मायामात्र कहिये असत्‌रूप देखता-हुआ याहीतैं कहातैं यह शरीरादिक होवैहै अरु

कहां विलयकूं पावताहे इस प्रकारके कौतुकतें रहित औ स्वरूपतें अचल बुद्धिवाला ज्ञानी समीप प्राप्त मृत्युके होते वी कैसें त्रास कहिये भयकूं पावताहै? ॥ ११ ॥

॥ ५६ ॥ जिसँ[233] महात्माका मन मोक्ष-विषै वी इच्छारहित है। तिस आत्मज्ञानसें तृप्त कहिये ज्ञानीकी किसके साथि तुलना होवैहै? किसीके साथि वी नहीं। यह अर्थ है ॥ १२ ॥

॥ ५७ ॥ स्वभावतें[236] कहिये स्वसत्तातें यह दृश्य कछु वी नहीं है। ऐसें जाननै-वाला औ स्वरूपतें अचलबुद्धिवाला जो ज्ञानी सो। यह ग्रहण करनै योग्य है औ यह त्यागनै योग्य है। इसप्रकार कैसें देखता-है ॥ १३ ॥

॥ ५८ ॥ [२३१]अंतःकरणतैं त्याग कियेहैं विषयवासनारूप कषाय जिसनैं औ द्वंद्वरहित औ याहीतैं आशातैं रहित ज्ञानीकूं दैवयोगतैं प्राप्त भया भोग दुःखके अर्थ नहीं होवैहै औ तुष्टि कहिये संतोषके अर्थ नहीं होवैहै ॥१४॥

इति श्रीपंडितपीतांवरविरचितायामष्टावक्रगीताभाषाटीकायामाक्षेपद्वारोपदेशचतुर्दशकं नाम तृतीयं प्रकरणं समाप्तम्॥

शिष्यप्रोक्तानुभवोल्लासषट्कं नाम चतुर्थं प्रकरणं ॥ ४ ॥

॥ दोहा ॥

अस गुरुसैं आछिप्त शिष ज्ञानदृष्टिउल्लास ॥
पाय ज्ञानिमैं स्पष्ट सब चेष्टासंभव आस ॥ १ ॥

॥ ५९ ॥ [२४४]वैंडा हर्ष है कि। हे गुरो! आत्मज्ञानी औ धीर औ भोगरूप लीलासैं खेलनैवालेकी संसारवृत्ति पशुरूप मूढनके साथि समानता कहिये तुल्यता नहीं है॥ १॥

॥ ६० ॥ [२४५]अहो! कहिये हे गुरो! इंद्र-आदिक सर्वदेवता बी जिसपदकूं प्राप्त होनैकूं इच्छितेहुये दीन कहिये ताकी अप्राप्तितैं लाचार वर्त्तेहैं। तिस सच्चिदानंदनामक पदविषै स्थित वर्त्तमान योगी कहिये साक्षात्कारवान् विषयभोगतैं हर्षकूं पावता नहीं॥ २

॥ ६१ ॥ [२४६]तत्त्वज्ञकूं पुण्यपापके साथि अंतःकरणमैं स्पर्श कहिये संबंध नहीं होवैहै। [२५१]जैसैं आकाशकी धूमके साथि देखनेमैं आनैवाली बी संगति कहिये संबंध नहीं है ३

॥ ६२ ॥ जिसें[२५४] महात्मानें "यह सर्व-जगत् आत्माहीं हैं" ऐसें जान्याहै । तिस प्रारब्धके वशतैंहीं वर्त्तमान ज्ञानीकूं कौन वचनसमुदाय निषेध करनैकूं वा प्रवृत्त करनैकूं समर्थ है ? कोई वी नहीं ॥ ४ ॥

॥ ६३ ॥ ब्रह्मासें[२५७] लेके स्तंबपर्यंत चतुर्विध भूतसमुदायविषै विद्वान्‌काहीं इच्छा औ द्वेषके निवारणविषै सामर्थ्य है । यातैं यदृच्छासैं प्रवर्तमान ज्ञानी विधिनिषेधका विषय नहीं है । यह अर्थ है ॥ ५ ॥

॥ ६४ ॥ कोइक[२६०] कहिये सहस्रनविषै एकहीं जगत्के ईश्वर कहिये तत्पदके अर्थकूं औ आत्मा कहिये त्वंपदके अर्थकूं अद्वय कहिये एकरूप जानताहै । सो जाकूं जानताहै यह करनै योग्य है ऐसें मानताहै ताकूं करताहै । तिसकूं कहां वी इसलोकविषै वा परलोकविषै

भय नहीं है ॥ ६ ॥

इति श्रीपंडितपीतांबरवि० शिष्यप्रोक्तानुभवोल्लासपद्कं नाम चतुर्थ प्रकरणं ॥ ४ ॥

आचार्योक्तं लयचतुष्टयं नाम

पंचमं प्रकरणं ॥ ५ ॥

॥ ६५ ॥ [२६३] हे शिष्य! तेरा किसीसैं वी संग नहीं है। यातैं शुद्ध कहिये असंगरूप तूं किसकूं त्यागनैकूं औ किसकूं ग्रहण करनैकूं इच्छताहै? तातैं संघातके विलय कहिये निषेधकूं करताहुआ ऐसैंहीं देहादिकके निषेधरूपहीं लयकूं पाव ॥ १ ॥

॥ ६६ ॥ [२६५] हे शिष्य! समुद्रतैं बुद्बुदकी न्याईं तुजतैं विश्व उदय होवैहै। सो तेरेतैं अभिन्नहीं है। इसप्रकारसैं एक कहिये सजातीयादिभेदरहित आत्माकूं जानिके ऐसैंहीं एकआत्माके ज्ञानरूपहीं लयकूं पाव ॥ २ ॥

॥ ६७ ॥ प्रत्यक्ष स्पष्ट देखनै योग्य विश्व वी मलरहित तुजविषै नहीं है । रज्जुसर्पकी न्यांई अवस्तुरूप होनैतैं । तातैं ऐसैंहीं लयकूं पाव ॥ ३ ॥

॥ ६८ ॥ आत्मानंदसैं पूर्ण याहीतैं सुखदुःखविषै सम औ आशानिराशाविषै सम तैसैं जीवनविषै वा मृत्युविषै सम कहिये निर्विकार हुया तूं ऐसैंहीं ब्रह्मदृष्टिरूप लयकूं पाव ॥४॥

इति श्रीपंडितपीतां० आचार्योक्तं लयचतुष्टयं नाम पंचमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ५ ॥

शिष्यप्रोक्तमुत्तरचतुष्टयं नाम षष्ठं प्रकरणं ॥ ६ ॥

॥ दोहा ॥

सिष परीक्षाके लिये । किय गुरु लय उपदेस ॥
अव सिष कह आत्माकूं नहि । लय आदिकको लेस॥

॥ ६९ ॥ मैं आकाशकी न्याईं अनंत हूं औ प्रकृतिका कार्य जगत् कहिये देहादिक घटकी न्याईं मेरा अवच्छेदक औ निवासस्थान है । इसप्रकारका ज्ञान कहिये वेदांतसिद्ध अनुभवरूप प्रमाण हुवा है । यातें अन्यप्रकारके भावकी शंका नहीं है । तैसें आत्माका अनंतताके हुये इस आत्माकूं त्याग नहीं औ ग्रहण नहीं । अरु लय नहीं संभवैहै ॥ १ ॥

॥ ७० ॥ सो पूर्वोक्त मैं आत्मा महासमुद्रकी न्याईं हूं औ सो प्रपंच लहरीके तुल्य है । इसप्रकारका ज्ञान कहिये अनुभवरूप प्रमाण हुवा है । तैसें हुये इस आत्माकूं त्याग नहीं औ ग्रहण नहीं । अरु लय नहीं संभवैहै ॥२॥

॥ ७१ ॥ [२८७] सो श्रुतिप्रसिद्ध मै सीपीके तुल्य हूं औ विश्वकी कल्पना रूपेकी न्याईं है। इसप्रकारका ज्ञान कहिये अनुभवरूप प्रमाण इहां है। तैसैं हुये इस आत्माकूं त्याग नहीं औ ग्रहण नहीं। अरु लय नहीं संभवैहै ॥ ३ ॥

॥ ७२ ॥ [२९०] मैंहीं सर्वभूतनविषै सत्तास्फूर्ति देनेवाला हूं। यातैं सर्वभूत मुज अधिष्ठानविषै वर्त्ततेहैं। इसप्रकारका ज्ञान कहिये वेदांतसिद्धअनुभव इहां प्रमाण है। तैसैं हुये इस आत्माकूं त्याग नहीं औ ग्रहण नहीं। अरु लय नहीं संभवैहै ॥ ४ ॥

इति श्रीपंडितपी० शिष्यप्रोक्तमुत्तरचतुष्टयं नाम षष्ठं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अनुभवपंचकं नाम

सप्तमं प्रकरणं ॥ ७ ॥

॥ दोहा ॥

लययोगहि साधेविना विना निरंकुस व्यवहार ॥
आशंकाकरि सिष कहे गुरुकूं ता परिहार ॥ १ ॥

॥ ७३ ॥ मुजे आत्मारूप नाशरहित महासमुद्रविषै विश्वनामक जहाज मनरूप पवनकरि इहां तहां भ्रमता है ॥ इहां मेरेकूं असहनशीलता नहीं है ॥ १ ॥

॥ ७४ ॥ मुंजे आत्मारूप नाशरहित व्यापकसमुद्रविषै जगत्‌रूप लहरी दृश्यता-आदिकस्वभावतें उदय होहू वा अस्तकूं पावहू । मेरेकूं तिसके उदयविषै वृद्धि नहीं है । व्यापक होनेतें । औ, ताके नाशविषै हानि नहीं है । अनंत होनेतें ॥ २ ॥

॥ ७५ ॥ मुंज[३०१] अनंत महासमुद्रविषै प्रसिद्ध विश्व कल्पना भ्रममात्रहीं है वास्तव नहीं । यातैं मैं अतिशांत हूं औ निरांकार[३०२] हूं । इसी आत्मज्ञानके ताईहीं मैं आश्रित भयाहूं । लययोगके ताईं नहीं । काहेतैं ताकूं पूर्व षष्ठप्रकरणविषैहीं दूषित होनैतैं ॥ ३ ॥

॥ ७६ ॥ आत्मा[३०५] भाव कहिये देहादिकन-विषै आधेय कहिये आश्रितपनैकरि नहीं है । व्यापक होनैतैं । औ भाव कहिये देहादिक । अनंत अरु निरंजनरूप तिस आत्माविषै नहीं है । यातैं मैं असंग हूं औ इच्छादि-धर्मरहित हूं औ शांत हूं । इसी ज्ञानके ताईहीं मैं आश्रित भयाहूं ॥ ४ ॥

॥ ७७ ॥ अहो[३०६] अलौकिक चैतन्यमात्रहीं मैं हूं । औ जगत् इंद्रजाल तुल्य है । यातैं मेरेकूं किसी वस्तुविषै किसीप्रकारसैं त्याग

अरु ग्रहणकी कल्पना कहिये वुद्धि होवैगी ? किसीविषै वी नहीं ॥ ५ ॥

इति श्रीपंडितपी० अनुभवपंचकं नाम सप्तमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ७ ॥

गुरुप्रोक्तं वंधमोक्षव्यवस्थाचतुष्कं नाम अष्टमं प्रकरणं ॥ ८ ॥

॥ दोहा ॥

ज्ञानपरीच्छा यूं करी । अवशिषकूं अनुमोद ॥
करनैकूं गुरु कहतहैं । वंध मोच्छ मिद नोद ॥ १ ॥

॥ ७८ ॥ हे[३१९] शिष्य ! चित्त जव किसी विषयकूं वी इच्छताहै अरु शोचताहै सौ किसीकूं वी छोडताहै अरु ग्रहण करताहै औ किसीके ताईं वी हर्षकूं पावताहै अरु कोपकूं करताहै । तवहीं जीवकूं वंध होवैहै १

॥ ७९ ॥ जंब चित्त इच्छता नहीं । शोचता नहीं । छोडता नहीं । ग्रहण करता नहीं । हर्षकूं पावता नहीं औ कोपकूं करता नहीं । तवहीं जीवकूं मुक्ति होवै है ॥ २ ॥

॥ ८० ॥ जंब चित्त किसी वी अनात्माकारदृष्टिनविषै आसक्त होवैहै । तव बंध है । औ जब चित्त सर्वविषयाकार दृष्टिनविषै आसक्त नहीं होवैहै । तब मोक्ष है ॥ ३ ॥

॥ ८१ ॥ जंबे मैं कहिये अहंकार नहीं । तब मोक्ष है । औ जब मैं कहिये अहंकार है तब बंधन है । ऐसें जानिके अनायाससैंहीं कहिये श्रमसैं विनाहीं किसीकूं वी मति ग्रहण कर औ मति छोड ॥ ४ ॥

इति श्रीपंडितपी० गुरुप्रोक्तं बंधमोक्षव्यवस्थाचतुष्कं नामाष्टमं प्रकरणं समाप्तं ॥ ८ ॥

गुरुप्रोक्तं निर्वेदाष्टकं नाम नवमं प्रकरणं ॥ ९ ॥

॥ दोहा ॥

शिष्यउक्त अनुभूतिकी । दृढता अर्थ अचार ॥
इच्छादिकके त्यागमय । निर्वेदाष्टउचार ॥ १ ॥

॥ ८२ ॥ कृताकृते अकृत औ द्वंद्व कहिये सुखदुःखआदिक किसके वा कब शांत कहिये निवृत्त भयेहैं । किसीके वी कबवी निवृत्त भये नहीं । ऐसें जानिके इन कृत आदिकविषै वैराग्यतें कहिये आग्रहके त्याग आदिकतैं **त्यागपरायण हो** ॥ कैसा है तूं कि:-अव्रती कहिये कहीं वी आग्रहरूप व्रततैंरहित है । यातैं तुजकूं कहीं वी आग्रह घटे नहीं ॥ १ ॥

॥ ८३ ॥ हे[३२५] तात कहिये शिष्य ! सहस्रोंके मध्यमैं किसी वी धन्य कहिये कृतार्थपुरुषकूं उत्पत्तिविनाशरूप लोकनकी चेष्टाके देखनैतैं। जीवनेकी इच्छा भोगेच्छा औ बोधकी इच्छा उपशम कहियें निवृत्तिकूं पाईहै ॥ यह वार्त्ता तैसैं वैराग्यवान्‌शिष्यके तांई अनुमोदन करनैकूंहीं कहियेहै । उपदेश करीता नहीं । इसप्रकार पूर्व कहाहीं है ॥ २ ॥

॥ ८४ ॥ यह[३२६] दृश्यमान सर्वप्रपंचका समुदायहीं अनित्य है औ तीन तापों करिके दूषित है। औ असार है। औ निंदित है। औ त्यागने योग्य है। ऐसैं निश्चय करिके ज्ञानी शांतिकूं पावताहै कहां वी इच्छाकूं करता नहीं ॥ ३ ॥

॥ ८५ ॥ जिसविषै मनुष्यनकूं द्वंद्व कहिये सुखदुःखादिक होवै नहीं । यह कहिये ऐसा काल कौन है । वा वय कहिये अवस्था कौन है । कोईबी नहीं ॥ यह विचारिके तिन द्वंद्वनकूं उपेक्षा कहिये विसरण करिके यथा-प्राप्तवस्तुनविषै वर्त्तनेवाला सिद्धि कहिये मुक्तिकूं पावता है ॥ ४ ॥

॥ ८६ ॥ महान्‌ऋषि गौतम आदिकनके । औ साधु कहिये कर्मिष्ठनके । तैसें योगिनके मतकूं नानाप्रकारका देखिके निर्वेद कहिये वैराग्यकूं पायाहुया कौन मनुष्य शांति कहिये सुखकूं नहीं पावैगा ? पावैगाहीं ॥ ५ ॥

॥ ८७ ॥ वैराग्य[337] समता औ युक्तिकरि चेतनके स्वरूपके साक्षात्कारकूं करीके ताके पीछे नहीं है कोई गुरु जिसका ऐसा जो है। सो संसारतैं आपकूं औ अन्योकूं तारताहै कहिये उद्धार करताहै ॥ ६ ॥

॥ ८८ ॥ हे[340] शिष्य! तूं भूतनके विकार कहिये कार्यरूप देहइंद्रियआदिकनकूं वास्तवतैं भूतमात्ररूप देख। आत्मरूप नहीं ॥ ऐसैं हुये तूं तिसी क्षणविषै बंधतैं मुक्त हुया स्वरूपविषै स्थित होवैगा ॥ ७ ॥

॥ ८९ ॥ विषयनकी[343] वासनाहीं संसार है। यातैं तिन सर्ववासनाकूं छोड। वासनाके त्यागतैं तिस संसारका त्याग होवैहै। औ अब वासनाके त्याग हुये शरीरकी स्थिति जैसैं प्रारब्ध होवै तैसैंहीं होवैगी ॥८॥

इति श्रीपंडितपीतांबरविरचितायामाष्टावक्रगीताभाषाटीकायां निर्वेदाष्टकं नाम नवमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ९ ॥

गुरुप्रोक्तमुपशमाष्टकं नाम
दशमं प्रकरणं ॥ १० ॥

॥ दोहा ॥

विनाविषय संतोषमय । कहा पूर्व वैराग ॥
ताकी सिद्धि लिये कहैं। गुरु तृष्णाको त्याग॥१॥

॥ ९० ॥ [३४६] कामरूप वैरीकूं छोडिके औ अनर्थकरि पूर्ण अर्थकूं छोडिके औ इन दोनूंके हेतु धर्मकूं वी छोडिके सर्व त्रिवर्गके हेतु कर्मनविषे अनादर कहिये उपेक्षाकूं कर १

॥ ९१ ॥ [३४९] हे शिष्य ! मित्र क्षेत्र धन गृह स्त्री औ दौलतआदिकसंपदाकूं स्वप्न अरु इंद्रजालकी न्याईं देख । जातैं वे तीन वा पांच दिन रहनेवालियां हैं ॥ २ ॥

॥ ९२ ॥ [३५७]जहांजहां तृष्णा होवै तहां कहिये तिसीकूंहीं संसार जान। यातैं प्रौढ-वैराग्यकूं आश्रयकरिके तृष्णारहित हुया आत्मनिष्ठासैं सुखी हो ॥ ३ ॥

॥ ९३ ॥ [३५८]तृष्णामात्र स्वरूपहीं बंध कहिये। औ ताका नाशहीं मोक्ष कहिये-है। जातैं [३५९]भव देहादिविषयविषै संगके अभावमात्रकरि वारंवार आत्माकी प्राप्ति औ संतोष कहिये तृप्ति होवैहै ॥ ४ ॥

॥ ९४ ॥ [३६१]तूं एक चेतन अरु शुद्ध है। औ विश्व जड अरु असत् है। तैसैं सो अ-विद्या वी अनिर्वचनीय है। तैसैं हुये वी तेरेकूं तिनके जाननैकी इच्छा कौन युक्त है। कोई वी नहीं ॥ ५ ॥

॥ ९५ ॥ [३६५] राज्य सुत कलत्र कहिये स्त्रियां शरीर औ सुख ये आसक्ति करनैवाले वी तेरे जन्मजन्मविषै नाश भयेहैं। यातैं विश्व असत् है ॥ ६ ॥

॥ ९६ ॥ [३६७] अर्थकरि कामकरि सुकृतरूप कर्म कहिये धर्मकरि वी वहुत भया। इन-विषै इच्छा करनै योग्य नहीं। जातैं [३७०] संसाररूप दुर्गममार्गविषै भ्रमण करनैवाले तेरा मन इन धर्मादिकनविषै विश्रामकूं पाया नहीं ॥ ७ ॥

॥ ९७ ॥ [३७२] हे शिष्य! तैनैं प्रयासका देनै-वाला औ याहीतैं दुःखदायक कर्म। शरीर-करि मनकरि अरु वाणीकरि कितने जन्म-तोडी किया नहीं। किंतु सर्वजन्मोविषै वी किया। तातैं अव वी कर्मनतैं उपराम हो ॥८॥

इति श्रीपंडितपी० गुरुप्रोक्तमुपशमाष्टकं नाम दशमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १० ॥

ज्ञानाष्टकं नाम

एकादशं प्रकरणं ॥ ११ ॥

॥ दोहा ॥

कहाँ शांति विज्ञान बिन। नहिं काहूकूं होय ॥
अस निश्चय कारण गुरू। ज्ञानाष्टक कह गोय ॥१॥

॥ ९८ ॥ भाव औ अभावरूप विकार। स्वभावतैं कहिये माया औ ताके संस्कारतैं होवै-है। निर्विकारआत्मातैं नहीं। ऐसैं निश्चय-वाला पुरुष निश्चयके बलतैंहीं निर्विकार औ क्लेशरहित हुया सुखसैंहीं उपशम कहिये शांतिकूं पावताहै ॥ १ ॥

॥ ९९ ॥ ईहां ईश्वरहीं सर्वका सृज-नेहारा है। अन्य जीव नहीं। ऐसैं निश्चय-वाला पुरुष। निश्चयके बलतैंहीं भीतर गल-गईहै सर्वआशा जाकी औ याहीतैं शांत हुया कहीं बी आसक्त होता नहीं ॥ २ ॥

॥ १०० ॥ संमयभेदविषै आपदा औ संपदा दैव कहिये अदृष्टतैंहीं होवैहै । ऐसै निश्चयवाला औ याहीतैं तृप्त औ याहीतैं सदा स्वस्थइंद्रियवाला पुरुष । अप्राप्तकूं इच्छता नहीं औ नष्टकूं शोचता नहीं ॥ ३ ॥

॥१०१॥ सुखदुःख औ जन्ममृत्यु दैवतैंहीं होवैहै । ऐसैं निश्चयवाला औ याहीतैं ऐसैं साध्य कहिये यह फल तुजकारि साधने योग्य है । ऐसैं अदर्शी औ याहीतैं भ्रमरहित पुरुष प्रारब्धके वशतैं करताहुया बी लेप कहिये कर्मके फलरूप भोगकूं पावता नहीं ॥ ४ ॥

॥ १०२ ॥ चिंतासैं यह दुःख होवैहै और-प्रकारसैं नहीं । ऐसै निश्चयवाला औ याहीतैं तिस चिंताकरि रहित औ याहीतैं शांत औ याहीतैं सर्वठिकानैं गलगईहै इच्छा जाकी । ऐसा पुरुष सुखी होवैहै ॥ ५ ॥

॥ १०३ ॥ मैं[३९३] देह नहीं औ मेरा देह नहीं । किंतु मैं नित्यबोधरूप हूं । ऐसै निश्चय-वाला इस ज्ञानके वशतैं देहादिकविषै अभि-मानरहित पुरुष । विदेहमुक्तिकूं प्राप्त भये पुरुषकी न्याईं अकृत औ कृतकूं मैंनैं किया । ऐसै स्मरण करता नहीं ॥ ६ ॥

॥ १०४ ॥ ब्रह्मासैं[३९३] लेके स्तंव कहिये तृणगुच्छ पर्यंत सर्वजगत् मैंहीं हौं । ऐसै अपरोक्षनिश्चयवाला पुरुष । संकल्पविकल्प-रहित शुचि कहिये निर्मल शांत औ प्राप्त अरु अप्राप्तविषै परमसंतोषवान् है । आत्मानंदकरि पूर्ण होनैतैं ॥ ७ ॥

॥ १०५ ॥ नाना[३९६] आश्चर्यरूप यह विश्व कछु बी नहीं । ऐसै निश्चयवाला पुरुष वासनारहित औ केवलचेतनारूप हुया "कछु बी नहीं"की न्याईं विलक्षणव्यवहारका , अ-

विषयहीं शांतिकूं पावताहै ॥ ८ ॥

इति श्रीपंडितपीतांबर वि० ज्ञानाष्टकं नामैकादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ११ ॥

एवमेवाष्टकं नाम द्वादशं प्रकरणम् ॥ १२ ॥

॥ दोहा ॥

शांतीकारक ज्ञान गुरु । उक्त आपमैं स्पष्ट ॥
करनैकूं शिश कहतहै । एवमेवका अष्ट ॥ १ ॥

॥ १०६ ॥ मैं पूर्व शरीरके कर्मका असहन करनैवाला भया । ताके पीछे वाणीके जपरूप कर्मका असहन करनैवाला भया । यातैं मनके व्यापाररूप चिंताका असहन करनैवाला भयाहूं । तातैं ऐसैंहीं व्यापाररहितहीं मैं च्यारीऔरतैं स्थित भयाहूं ॥ १.॥

॥ १०७ ॥ शब्दआदिककूं प्रीतिका अविषय होनैकरि औ आत्माकूं अदृश्य होनैकरि विक्षेपनतैं निवृत्त होयके एकाग्र भयाहै हृदय जिसका ऐसा हुया। ऐसैंहीं स्वस्वरूपसैंहीं मैं च्यारीओरसैं स्थित भया-हूं ॥ २ ॥

॥ १०८ ॥ सम्यक् कर्त्तापनैंआदिक अनर्थ-रूप अध्यासआदिककरि विक्षेपके होते । ताके निवारणअर्थ करनै योग्य समाधिके वास्ते व्यवहार है औरप्रकारसैं नहीं। ऐसैं नियमकूं देखिके ऐसैंहीं समाधिरहितहीं मैं च्यारी-ओरतैं स्थित भया हूं ॥ ३ ॥

॥ १०९ ॥ हे ब्रह्मन्! त्यागनै योग्य औ ग्रहण करनै योग्य वस्तुके वियोगतैं औ इस प्रकारसैं हर्ष औ खेदके अभावतैं। हे ब्र-ह्मन् कहिये गुरो! मैं ऐसैंहीं स्थित भयाहूं ४

॥ ११० ॥ आश्रम अनाश्रम औ ध्यान। तैसैं चित्तकरि अंगीकार कियेका त्याग। इन तीनोकरि मुजकूं संकल्पविकल्प होवैहै। ऐसैं देखिके मैं ऐसैं इन तीनतैं रहितहीं स्थित भयाहूं ॥ ५ ॥

॥ १११ ॥ जैसैंहीं कर्मका अनुष्ठान अज्ञानतैं होवैहै। तैसैंहीं कर्मका उपरम कहिये त्याग वी अज्ञानतैं होवैहै। इस अर्थकूं सम्यक् कहिये यथार्थ जानिके ऐसैं कर्म औ कर्मके त्यागसैं रहितहीं मैं स्थित भयाहूं ॥ ६ ॥

॥ ११२ ॥ अचिंत्य ब्रह्म है। ऐसैं ताकूं चिंतन करताहुया वी यह पुरुष आत्माकी चिंतामय कहिये भावनामय रूपकूं भजता है। तातैं ताकी भावना कहिये ध्यानकूं त्यागिके ऐसैं भावनारहितहीं मैं स्थित भयाहूं ७

॥ ११३ ॥ जिसै[३६] पुरुषनै ऐसैंहीं सर्वक्रिया-रहितहीं स्वरूपकूं साधनोके वशतैं कियाहै। सो यह कृतार्थ होवैहै । तब ऐसैंहीं स्व-भाववाला कहिये विनासाधन जो है। सो यह कृतार्थ होवै तामैं क्या कहनाहै ॥ ८ ॥

इति श्रीपंडितपीतांवरविरचितायामष्टावक्रगीताभाषाटी-कायामेवमेवाष्टकं नाम द्वादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥१२॥

यथासुखसप्तकं नाम त्रयोदशं प्रकरणं ॥ १३ ॥

॥ दोहा ॥

एवमेव इस अवस्थाकी । फल सुखथितिवात ॥
स्पष्ट करनशिष कहतहै । यथासुख स्थिति सात ॥

॥ ११४ ॥ [४११] सर्वसंगके अभावकरि होनै-वाली चित्तकी स्थिरता कौपीनकी आसक्ति-विषै वी दुर्लभ है। यातैं मैं त्याग औ ग्रहणकूं छोडिके जैसैं सुख होवै तैसैं रहता-हूं। कदाचित् वी दुःखी नहीं ॥ १ ॥

॥ ११५ ॥ कहांवी शरीरकूं खेद होवैहै। औ कहांवी जिन्हा खेदकूं पावतीहै। औ कहांवी मन खेदकूं पावताहै। यातें मैं तिन तीनकूं वी त्यागिके सुख जैसें होवै तैसें पुरुषार्थ कहिये स्वरूपविषैहीं स्थित भयाहूं॥२॥

॥ ११६ ॥ शरीरइंद्रियआदिककरि किया कछुवी वास्तवतें आत्माकरि किया नहीं होवैहै। ऐसें चिंतन करिके जब जो शरीरादिकका कर्म करनैकूं आय पडताहै। तब सो अहंकारसैं रहित होनैकरि करीके मैं सुख जैसें होवै तैसें स्थित भयाहूं ॥ ३ ॥

॥ ११७ ॥ कर्म औ निष्कर्मताका हठरूप स्वभाव। देहविषै आसक्त योगीकूंहीं होवैहै। औ मैं तौ देहके संयोग औ असंयोग कहिये संयोगाभावके वियोगतें जैसें सुख होवै तैसें स्थित भयाहूं ॥ ४ ॥

॥ ११८ ॥ [४३०] मेरेकूं स्थितिसैं कहिये बैठनेसैं गतिसैं कहिये चलनेसैं अर्थ औ अनर्थ नहीं हैं। वा शयनसैं अर्थ औ अनर्थ नहीं हैं। तातैं बैठते चलते सोते हुये मैं जैसैं सुख होवै तैसैं स्थित कहिये स्थितिकूं प्राप्त भयाहूं ॥ ५ ॥

॥ ११९ ॥ [४३३] सोवतेहुये मुजकूं हानि नहीं है औ प्रयत्नवान् हुये मुजकूं सिद्धि कहिये किसी फलकी प्राप्ति नहीं है। यातैं अयत्न औ यत्नविषै नाश औ उल्लासकूं छोडिके मैं जैसैं सुख होवै तैसैं स्थित भया कहिये स्थितिकूं पायाहूं ॥ ६ ॥

॥ १२० ॥ [४३५] भवों कहिये जन्मोंविषै सुखादिरूप धर्मनके अनियम कहिये अनित्यताकूं बहुत स्थलोंविषै देखिके। यातैं शुभअशुभकूं छोडिके मैं जैसैं सुख होवै तैसैं

स्थित भयाहूं ॥ ७ ॥

इति श्रीपंडितपीतांवरविरचितायामष्टावक्रगीताभाषाटीकायां यथासुखसप्तकं नाम त्रयोदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १३ ॥

शांतिचतुष्टयं नाम चतुर्दशं प्रकरणम् ॥ १४ ॥

॥ दोहा ॥

उक्तजु सुखकी अवस्था। आपनमाहिंघटाव ॥
करनेकूं शिष कहतहै। शांति चतुष्टय भाव ॥१॥

४३८

॥ १२१ ॥ जो पुरुष स्वभावसैं विषयन-विषै शून्यचित्तवाला है औ प्रमादतैं विषय-नकूं चिंतन करनैवाला है। किसकी न्याईं कि। निद्राकूं प्राप्त औ जागरणकूं प्राप्त भये पुरुषकी न्याईं सो पुरुष निश्चित संसारसैं रहित है। संसारके हेतु विषयस्मरणके अ-भावतैं ॥ १ ॥

॥ १२२ ॥ मेरेकूं जब विषयनकी इच्छा गलित भई तब मेरेकूं कहां धन है। कहां मित्र हैं। कहां विषयरूप चौर हैं। कहां शास्त्र हैं औ कहां विज्ञान कहिये निदिध्यासन अरु धनादिकका ज्ञान है? तिनविषै वी मुजकूं आस्था नहीं है ॥ २ ॥

॥ १२३ ॥ साक्षी पुरुष कहिये त्वंपदार्थके औ परमात्मारूप ईश्वर कहिये तत्पदार्थके जानैहूये कहिये मैं ब्रह्म हूं ऐसें साक्षात् किये-हुये औ बंधतें मोक्षविषै वी आशाके अभाव हुये मेरेकूं मुक्तिके अर्थ चिंता नहीं है ॥३॥

॥ १२४ ॥ अंतःकरणविषै संकल्परहित औ बाहीर भ्रांत पुरुषकी न्याईं स्वतंत्र विचरनैवाले ज्ञानीकी तिसतिस दशा कहिये अवस्थाकूं तैसै ज्ञानीहीं जानतेहैं ॥ ४ ॥

इति श्रीपंडितपीतांबरविरचितायामष्टावक्रगीताभाषाटीकायां शिष्यप्रोक्तं शान्तिचतुष्टयं नाम चतुर्दशं प्रकरणं समाप्तम्॥

गुरुप्रोक्ततत्त्वोपदेशविंशतिकं नाम पंचदशं प्रकरणं ॥ १५ ॥

॥ दोहा ॥

आत्माके दुषलच्छय । निजातत्वप्रतीतिसुखेन् ॥
लिय पुनपुन उपदेश गुरु। कहत दया जलएन ॥

॥ १२५ ॥ सत्व कहिये सत्वगुणयुक्त बुद्धि-वाला शिष्य जैसैं तैसैं उपदेशसैं कृतार्थ होवैहै । औ अन्य असत्वबुद्धिवाला जीवन-पर्यंत जिज्ञासु हुया वहुधा उपदेशकूं पाया वी तहां विरोचनकी न्यांई मोह कहिये भ्रांतिकूं प्राप्त होवैहै ॥ १ ॥

॥ १२६ ॥ विषयनविषै विरसता कहिये रागका अभाव मोक्ष है । औ विषयनविषै रस कहिये राग बंध है । इतनाहीं बंधमोक्षका श्रेष्ठ ज्ञान है । ऐसैं जानिके तूं जैसैं इच्छता-है तैसैं कर ॥ २ ॥

॥ १२७ ॥ यहँहैं प्रसिद्ध तत्त्वबोध । वाचालपंडित औ महान्उद्योगी जनकूं क्रमतें मूक जड औ आलसी करडालताहै । प्रत्यगात्माविषै तत्पर होनेकरि ज्ञानीके वाणी मन औ शरीर कुंठित होवैहैं । यातें भोगकी इच्छावाले पुरुषोनैं तत्त्वबोध त्यागदिया कहिये अनादरयुक्त कियाहै ॥ ३ ॥

॥ १२८ ॥ हे शिष्य ! जातें तूं चेतनरूप है यातें देह नहीं औ तेरा देह नहीं । औ जातें तूं सदा साक्षी है यातें तूं भोक्ता वा कर्त्ता नहीं । यातें देह औ ताके संबंधिनविषै निरपेक्ष हुया सुख जैसैं होवै तैसैं विचर ४

॥ १२९ ॥ रॉग औ द्वेष मनके धर्म हैं । तेरे नहीं । सो मन कदाचित् तेरा संबंधि नहीं । यातें मनके अध्यासतें रागादिकका

अध्यास मतिकर। जातें तूं निर्विकल्प औ बोध-स्वरूप है । यातें रागादिविकारनतें रहित हुया सुख जैसें होवै तैसें विचर ॥ ५ ॥

॥ १३० ॥ सर्वभूतनविषै विवर्त्तोपादान-कारण होनैकरि अनुस्यूत आत्माकूं जानिके औ सर्वभूतनकूं आत्माविषै अध्यस्त हैं ऐसें जानिके अहंकाररहित औ ममकाररहित हुया तूं सुखी हो ॥ ६ ॥

॥ १३१ ॥ जिसविषै यह विश्व। सागर-विषै तरंगनकी न्यांई अधिष्ठानसैं अभिन्न स्फुरता कहिये भासताहै। सो चैतन्य तूं हीं है यामैं संदेह नहीं। यातें हे चेतनमूर्ते! तूं ज्वररहित हो ॥ ७ ॥

॥ १३२ ॥ हे तात! श्रद्धा कहिये विश्वास कर। श्रद्धा कर। भो हे शिष्य! इस अपनी चेतनरूपताविषै मोह कहिये संशय-विपर्ययरूप अविवेककूं मति कर॥ ज्ञानस्वरूप औ प्रकृतितैं पर जो तूं सो भगवान् कहिये तत्पदार्थरूप है। तैसैं आत्मा कहिये त्वंपदार्थरूप है ८

॥ १३३ ॥ गुण कहिये इंद्रियआदिकन-करि वेष्टित देह बैठताहै आताहै औ जाताहै। आत्मा तौ न जानैवाला है औ न आनैवाला है। यातैं इस आत्माके तांई मैं मरूंगा ऐसैं क्या शोच करताहै ॥ ९ ॥

॥ १३४ ॥ देह जो है सो कल्पपर्यंत स्थित होहु वा फेर आज कहिये अबीहीं चल्याजाउ। तिसकरि चेतनमात्रस्वरूप तेरी कहां वृद्धि है औ वा कहां हानि है? ॥१०॥

॥ १३५ ॥ विश्वनामक लहरी बी स्वभाव-

तें कहिये अविद्या काम कर्मतें तुज अनंत चेतनरूप महासमुद्रविषै उदय होवो वा अस्तकूं पावहु। इसकरि तेरी वृद्धि नहीं औ हानि नहीं॥

॥ १३६ ॥ हे तात! तूं जातें चेतनमात्ररूप है औ यह जगत् तुजतें भिन्न नहीं। यातें किसकूं कैसें कहां त्यागग्रहणकी कल्पना होवै? ॥ १२ ॥

॥ १३७ ॥ एक अविनाशी शांत कहिये निष्प्रपंच चिदाकाशरूप औ निर्मल कहिये शुद्धरूप तुजविषै जन्म कहांतैं औ कर्म कहांतैं औ अहंकार कहांतैं हीं होवैगा?॥ १३

॥ १३८ ॥ जिसै जिस कार्यकूं तूं देखताहै। तहां कारणरूप एक तूंहीं भासताहै। कटक अंगद कहिये भुजाका भूषण। औ नूपुर कहिये स्त्रीपादभूषण क्या सुवर्णतैं न्यारा भासताहै? नहीं भासताहै। यह अर्थ है ॥१४॥

॥ १३९ ॥ "येहं सो मैं हूं औ यह मैं नहीं हूं" इस विभागकूं त्यागकर । औ "सर्व आत्मा है" ऐसें निश्चय करिके भेदभ्रांतिकूं त्यागकर । तैसें हुये निःसंकल्प हुया सुखी हो ॥ १५ ॥

॥ १४० ॥ तेरेहीं अज्ञानतें विश्व है । यातैं परमार्थतैं तूं एक है यातैं तुजतैं अन्य कोई बी संसारी नहीं औ असंसारी नहीं है ॥ १६ ॥

॥ १४१ ॥ येहे विश्व भ्रांतिमात्र सिद्ध है । यातैं किंचित् नहीं है । इस निश्चय-वाला याहींतैं वासनारहित औ स्फूर्ति कहिये प्रकाशमात्र हुया कछु बी नहींकी न्यांई शांतिकूं पावताहै ॥ १७ ॥

॥ १४२ ॥ तीनकालमैं बी भवसागरविषै एक तूंहीं होताभयाहै औ होवैगा । यातैं तेरेकूं बंध नहीं है वा मोक्ष नहीं है । यातैं तूं कृतकृत्य हुया सुख जैसैं होवै तैसैं विचर १८

॥ १४३ ॥ हे चेतनरूप! संकल्प औ विकल्प करिके चित्तकूं क्षोभ मतकर । किंतु उपशमकूं पाव । औ आनंदरूप स्वस्वरूप-विषै स्थित होहू ॥ १९ ॥

॥ १४४ ॥ तूं सर्व ठिकाने ध्यानकूंहीं त्यागकर । कछु बी हृदयविषै धारण मत-कर । आत्मारूप तूं सदा मुक्तहीं हो । विचारिकै क्या फल करैगा? ॥ २० ॥

इति श्रीपंडितपीतांबरविरचितव्याख्यानसहितअष्टावक्रगीतायां तत्त्वोपदेशविषयकं नाम पंचदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥१५॥

विशेषोपदेशकं नाम षोडशं प्रकरणं ॥ १६ ॥

॥ दोहा ॥

भिन्नभाव करि सर्वकी विस्मृति मुक्ती अंग ॥
कहहीं द्वार अनर्थमय तृष्णा आदिक भंग ॥ १ ॥

॥ १४५ ॥ हे तात ! तूं नानाशास्त्रनकूं वारंवार शिष्यनके ताईं कथन कर। वा गुरुनतें श्रवण कर। तौ वी तेरा सर्वके विस्मरणतैं विना श्रेय कहिये कल्याण नहीं होवैगा ॥ १ ॥

॥ १४६ ॥ हे विशेषज्ञाता ! तूं भोगकूं कर। वा कर्मकूं कर। वा समाधिकूं कर। तौ वी तेरेकूं सर्वआशातैं रहित भया चित्त स्वस्वरूपविषै अत्यंतरुचि उपजावेगा॥२

॥ १४७ ॥ सैंकूल कहिये सर्वजन आयासतैं कहिये देहनिर्वाहक परिश्रमतैं दुःखी होवैहै। परंतु इस आयासकूं " यह दुःखका हेतु है ॥ "

ऐसैं कोईवी जानता नहीं । इसीहीं उपदेश-सैं धन्य कहिये मुक्तिपुरुष परमसुखकूं पावताहै ॥ ३ ॥

॥ १४८ ॥ जो निमेष औ उन्मेषके कहिये नेत्रके ढांपनैंखोलनैंके व्यापारविषै खेदकूं पावताहै । तिस आलसीधीरकूं सुख होवैहै । अन्य किसीकूं वी नहीं ॥ ४ ॥

॥ १४९ ॥ यह किया । यह नहीं किया । इसप्रकारके द्वंद्वनसैं मुक्त जब मन होवैहै । तब धर्मअर्थकाम औ मोक्षविषै निरपेक्ष होवैहै५

॥ १५० ॥ मुमुक्षु हुया जो विषयविषै द्वेषका कर्त्ता होवै । सो विरक्त कहियेहै ॥ औ काम सापेक्ष हुया जो विषयनविषै लोलुप होवै । सो रागी ऐसैं कहियेहै ॥ औ जो ग्रहण औ मोक्षतैं रहित है । सो तो विरक्त नहीं औ रागवान् नहीं ॥ ६ ॥

॥ १५१ ॥ [530] अविचारदशाका स्थानकमय तृष्णा जहां लगि जीवैहै । तहां लगि निश्चयकरि त्यागग्रहणभावरूप संसारवृक्षकी शाकाका अंकुर होवैहै ॥ ज्ञानीजनोकूं तौ तृष्णाके होते बी त्यागग्रहणादिव्यवहारविषै संसारकी शाखाका विस्तार नहीं होवैहै । यह भावार्थ है ॥ ७ ॥

॥ १५२ ॥ [532] प्रवृत्तिविषै राग होवैहै । निवृत्तिविषै द्वेषहीं होवैहै । यातैं ज्ञानी बालककी न्यांई रागद्वेषतैं रहित हुया । ऐसैं रागद्वेषजन्य प्रवृत्तिनिवृत्तितैं रहितहीं स्थित होवैहै ॥ ८ ॥

॥ १५३ ॥ [534] रागीपुरुष दुःखके त्यागकी इच्छासैं संसारकूं त्यागनेकूं इच्छताहै । औ रागरहित तौ दुःखरहित हुया तिस संसारकें होते बी खेदकूं पावता नहीं ॥ ९ ॥

॥ १५४ ॥ [५३६] जाँकूं मोक्षविषै वी ज्ञानी हूं। ऐसा अभिमान है। तैसैं देहविषै वी ममता है। यह ज्ञानी नहीं वा योगी नहीं । किंतु केवल दुःखका भजनैवाला है ॥ १० ॥

॥ १५५ ॥ [५३१] तेरेकूं यद्यपि हर कहिये शिव उपदेशका कर्त्ता होवैगा। वा हरि होवैगा। वा ब्रह्मा होवैगा। तौ वी तेरेकूं सर्वके विस्मरणतैं विना। स्वस्थता नहीं होवैगी ॥ ११ ॥

इति श्रीपंडितपीतांवरविरचितायामष्टावक्रगीताभापाटीकायां विशेषोपदेशकं नाम शोडशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १६ ॥

तत्त्वज्ञस्वरूपविंशतिकं नाम सप्तदशं प्रकरणं ॥ १७ ॥

॥ दोहा ॥

वीसश्लोकसैं कहत है ज्ञानिदशा गुरुदेव ॥
विद्याज्ञानि श्रेष्ठता स्पष्टकरन फुट एव ॥ १ ॥

॥ १५६ ॥ तिसीनें ज्ञानका फल पाया। तैसें योगाभ्यासका फल पाया। जो आत्माविषैहीं तृप्त औ स्वच्छइंद्रियवाला हुया नित्य-अकेला रमताहै ॥ १ ॥

॥ १५७ ॥ हे शिष्य! इस जगत्‌विषै कदाचित् तत्वज्ञानी खेदकूं पावता नहीं। जातें एकहीं तिसकरि यह ब्रह्मांडमंडल पूर्ण है। यातें दूसरेके अभावतें खेदकूं पावता नहीं। यह अर्थ है ॥ २ ॥

॥ १५८ ॥ आत्मारामकूं कदाचित् ये विषय हर्षकूं प्राप्त करते नहीं। जैसें सल्लकी कहिये वल्लीविशेषके पत्त्योंविषै प्रीतिवाले हस्ती-कूं निंबके पत्ते हर्षकूं प्राप्त करते नहीं। तैसें॥३॥

॥ १५९ ॥ जो भुक्तभोगनविषै आसक्त होता नहीं औ अभुक्तभोगनविषै इच्छारहित होवैहै। तैसा दुर्लभ हो ॥ ४ ॥

॥ १६० ॥ संसारविषै भोगकी इच्छा-वाला औ मोक्षकी इच्छावाला बी देखिये-है। परंतु भोग मोक्ष दोनूंकी इच्छातें रहित महाशय कहिये ब्रह्मविषै अंतःकरणवाला विरलाहीं है ॥ ५ ॥

॥ १६१ ॥ धर्म अर्थ काम औ मोक्षविषै। अरु जीवितविषै। तैसैं मरणविषै। किसी बी उदारचित्तवालेकूं त्याग औ ग्रहणभाव नहीं है ॥ ६ ॥

॥ १६२ ॥ जातैं ज्ञानीकूं विश्वके लयविषै इच्छा नहीं औ ताकी स्थितिविषै द्वेष नहीं। तातें धन्य जो विद्वान् सो यथाप्राप्त आजी-विकासें जैसैं सुख होवै तैसैं रहताहै ॥ ७ ॥

५५६
॥ १६३ ॥ मैं इस ज्ञानसैं कृतार्थ हूं। इसप्रकारसैं गलित भईहै बुद्धि जिसकी। ऐसा कृती कहिये ज्ञानी। देखताहुया। सुनताहुया। स्पर्श करताहुया। सूंघताहुया। खाताहुया। सुख जैसैं होवै तैसैं रहताहै ॥ ८ ॥

५५८
॥ १६४ ॥ क्षीण भयाहै संसार जिसका। तिस पुरुषविषै विषयकी इच्छा नहीं वा विरक्ति नहीं। औ ताकी दृष्टि कहिये मनकी क्रिया शून्य भई औ चेष्टा कहिये शरीरकी क्रिया वृथा भई औ इंद्रिय विकल भये ॥९॥

५६०।५६३
॥ १६५ ॥ ज्ञानी जागता नहीं। याहीतैं नेत्रकी पलकां खोलता नहीं कहिये बाह्यविषयका स्मरण करता नहीं। औ ज्ञानी निद्रा करता नहीं। यातैं नेत्रकी पलकां लगावता नहीं

कहिये सर्वविषयनकूं ब्रह्ममय देखताहै ॥ ५६८ अहो कहिये आश्चर्य है कि:– मुक्तचित्तवाले ज्ञानीकी कोई वी उत्कृष्टअवस्था वर्त्ततीहै ॥ १० ॥

५६९ ॥ १६६ ॥ सर्वठिकानै सुख औ दुःखविषै स्वस्थचित्तवाला देखिये औ सर्वठिकानैं शत्रु औ मित्रविषै निर्मलअंतःकरणवाला कहिये समदर्शी देखियेहै । जातैं सर्ववासनातैं मुक्त है। याहीतैं मुक्त कहिये ज्ञानी सर्वत्र सर्वदशाविषै विराजताहै । पूर्णआत्माका दर्शी होनैतैं ॥ ११ ॥

५७० ॥ १६७ ॥ देखताहुया । सुनताहुया । स्पर्श करताहुया । सूंघताहुया । खाताहुया । ग्रहण करताहुया । बोलताहुया औ चलताहुया । जो इच्छा औ द्वेषतें मुक्त औ महाशय कहिये ब्रह्मविषै मनवाला पुरुष है। सो मुक्तहीं है ॥ १२ ॥

॥ १६८ ॥ उक्तअर्थकूं स्पष्ट करतेहैं:— जो निंदा करता नहीं। स्तुति करता नहीं। हर्षकूं पावता नहीं। कोपकूं करता नहीं। देता नहीं औ ग्रहण करता नहीं। अरु सर्वत्र रससैं रहित है। सो मुक्त है॥ १३॥

॥ १६९ ॥ जो प्रीतिसहित स्त्रीकूं देखिके। वा समीपमें स्थित मृत्युकूं देखिके अव्याकुल मनवाला कहिये काम औ भयतें रहित हुया स्वस्थ कहिये स्वरूपमैं स्थित औ महाशय है। सो मुक्तहीं है॥ १४॥

॥ १७० ॥ सुखविषै दुःखविषै नरविषै नारीविषै औ संपत्तियांविषै अरु विपत्तियांविषैं सर्वत्र समदर्शी धीर कहिये ज्ञानीकूं भेद नहीं है॥ १५॥

॥ १७१ ॥ क्षीण भया है संसार जिसका। ऐसे नरविषै हिंसा कहिये परका द्रोह नहीं। औ करुणायुक्तता नहीं औ उद्धतपना नहीं औ दीनता नहीं औ आश्चर्य नहीं औ क्षोभ नहीं ॥ १६ ॥

॥ १७२ ॥ जीवन्मुक्त जो है सो विषयविषै द्वेषकूं करता नहीं। वा विषयविषै लोलुप कहिये आसक्त बी नहीं। किंतु आसक्तिरहित मनवाला हुया नित्य प्रारब्धवशतैं प्राप्तप्राप्तकूं भोगताहै ॥ १७ ॥

॥ १७३ ॥ बाहिरतैं शून्यचित्तवाला कहिये ज्ञानी। समाधान असमाधान हित औ अहितकी कल्पनाकूं जानता नहीं। किंतु विदेहमुक्तिके प्रति स्थित कहिये प्राप्त हुयेकी न्यांई है ॥ १८ ॥

॥ १७४ ॥ ममतारहित औ अहंकार-रहित औ "कछु वी नहीं" इसनिश्चयवाला औ अंतरमें गल गईहै सर्वआशा जाकी ऐसा है। यातें करताहुया वी नहीं करता-है ॥ १९ ॥

॥ १७५ ॥ गलित भयाहै मन जिसका ऐसा ज्ञानी। किसी वी अनिर्वचनीयदशा कहिये अवस्थाकूं प्राप्त होवैहै। जातें मनका प्रकाश मोह स्वप्न औ जडता कहिये सुषुप्तितें रहित है ॥ २० ॥

इति श्रीपंडितपी० विरचितायामष्टावक्रगीताटीकायां तत्त्वज्ञस्वरूपविंशतिकं नाम सप्तदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १७ ॥

शांतिशतकं नाम

अष्टादशं प्रकरणं ॥ १८ ॥

॥ दोहा ॥

ज्ञानी मैं फलभूत जो । शांति मुख्यता ताहि ॥
कहनेकूं गुरु कहत हैं । शांति शतक फुट याहि १

॥ १७६ ॥ बोधके उदय भये तिसी क्षणमैंहीं प्रपंचका भ्रम स्वप्नकी न्याईं तुच्छ जाकूं विदित होवैहै । तिस शांत औ एक सुखरूप स्वप्रकाश कहिये ज्ञानीके अर्थ नमस्कार है ॥ १ ॥

॥ १७७ ॥ सर्वअर्थ कहिये धनादिकनकूं संपादनकरिके परिपूर्णभोगनकूं पावताहै । परंतु सर्वके परित्यागविना सुखी नहीं होवैहै ॥ २ ॥

॥ १७८ ॥ कर्त्तव्यजन्य दुःखरूप सूर्यकी ज्वालाकरि दग्ध भयाहै मन जाका । ता पुरुषकूं शांतिरूप अमृतधाराकी वृष्टि- विना सुख कहांसें होवैगा? ॥ ३ ॥

॥ १७९ ॥ यहै भव कहिये संसार भाव- नामात्र है । परमार्थतें आत्मातें भिन्न कछु बी नहीं । भावरूप औ अभावरूप पदार्थ- नविषे स्थित स्वभावनका अभाव नहीं है ॥ उष्णस्वभाववाला अग्नि शीतल नहीं होवैहै । तैसें हुये असत्स्वभाववाला प्रपंच भावनाकी निवृत्ति हुये निवृत्त होवैहै ॥ ४ ॥

॥ १८० ॥ आत्माका पद कहिये स्वरूप दूर नहीं औ संकोचतें कहिये परिच्छिन्न नहीं । याहीतें नित्यप्राप्तहीं है । ताकूं कंठ- गत भूषणकी न्याईं अप्राप्तकी न्याईं अज्ञानी मानतेहैं ॥ सो कैसा है कि:-निर्विकल्प है ।

आयाससैं रहित है। निर्विकार है औ निरंजन है ॥ ५ ॥

॥ १८१ ॥ निरावरणदृष्टिवाले कहिये ज्ञानी। प्रपंचरूप भ्रांतिमात्रकी निवृत्तिके हुये स्वरूपके ग्रहणमात्रतैं शोकरहित हुये विराजतेहैं ॥ ६ ॥

॥ १८२ ॥ सर्वजगत कल्पनामात्र है। औ आत्मा मुक्त है अरु सनातन है। ऐसैं जानिके धीर कहिये ज्ञानी। बालककी न्याईं क्या अभ्यास करताहै? कछु बी नही। कर्त्तव्यके अभावतैं। यह अर्थ है ॥ ७ ॥

॥ १८३ ॥ "आत्मा ब्रह्म है" औ "भाव-अभावरूप पदार्थ कल्पित हैं"। ऐसैं निश्चय-करिके निष्काम हुया क्या जानताहै। क्या बोलता है औ क्या करता है? ॥ ८ ॥

॥ १८४ ॥ "[६३०] सर्व आत्मा है" ऐसैं निश्चयकरिके बाह्यव्यापारतैं निवृत्त भये योगीकूं "यह सो मैं हूं" औ "यह मैं नहीं हूं" ऐसी कल्पना क्षीण भई ॥ ९ ॥

॥ १८५ ॥ [६३१] शांत योगीकूं विक्षेप नहीं औ एकाग्रता नहीं औ अतिबोध नहीं औ मूढता नहीं। औ सुख नहीं अरु दुःख नहीं १०

॥ १८६ ॥ [६३२] स्वर्गके राज्यविषै। भिक्षा-वृत्तिविषै। लाभसहित अलाभविषै। जन-समूहविषै औ वनविषै। विकल्परहित स्वभाववाले योगीकूं विशेष नहीं है ॥११॥

॥ १८७ ॥ [६३३] यह किया। यह नही किया इत्यादिद्वंद्वोंतैं मुक्त योगीकूं धर्म कहां है? वा काम कहिये भोग कहां है? वा अर्थ कहां है। औ वा विवेकता कहिये मोक्षका साधनरूप विवेक कहां है? ॥ १२ ॥

॥ १८८ ॥ [६३२]जीवन्मुक्तयोगीकूं कछु वी करनै योग्य नहीं है औ मनविषै कहीं वी अनुराग नहीं है। तौ वी इसका करना इहां जीवनके हेतु अदृष्टके अनुसारहीं होवैहै ॥ १३ ॥

॥ १८९ ॥ [६३३]सर्वसंकल्पोंकी सीमा कहिये आत्मज्ञानविषै विश्रांतिकूं प्राप्त भये महात्माकूं मोह कहां है। वा विश्व कहां है। वा ताका धन कहां है। वा मुक्तता कहां है? ॥ १४ ॥

॥ १९० ॥ [६३४]जिसनैं यह विश्व कहिये घटादिक देख्याहै। सो कदाचित् घटादिक नहीं है ऐसैं जानो। परंतु जो देखताहुया वी नहीं देखताहै। सो वासनारहित हुया क्या करताहै? प्रतियोगीके अभावतैं। कछु वी करता नहीं ॥ १५ ॥

६३६

॥ १९१ ॥ जिसनें न्यारा ब्रह्म देख्या है। सो "मैं ब्रह्म हूं" ऐसें चिंतन करें। औ जो द्वितीयकूं देखता नहीं। सो निश्चिंत हुया क्या चिंतन करेगा? कछु बी चिंतन करता नहीं ॥ १६ ॥

६३९

॥ १९२ ॥ जिसनें आत्माविषें विक्षेप देख्याहै। यह चित्त निरोधकूं करताहै। उदार कहिये आत्मदर्शी तौ विक्षेपकूं पाया नहीं। तब विक्षेपकी निवृत्तिरूप साध्यके अभावतें क्या करताहै? कहिये कैसें निरोधकूं करताहै ॥ १७ ॥

६४२

॥ १९३ ॥ धीर कहिये ज्ञानी लोकनविषें विक्षेपरहित औ प्रारब्धके वशतें लोककी न्यांई वर्तताहुया बी अपनें प्रति समाधिकूं नहीं देखताहै औ विक्षेपकूं नहीं देखताहै औ विक्षेपके किये लेपकूं नहीं देखता है१८

६४४
॥ १९४ ॥ जो ज्ञानी तृप्त औ भाव अ-भावतैं रहित औ वासनातैं रहित है। तिस लोकदृष्टिकरि करनैवालेनै वी कछु वी नहीं किया। अकर्ता आत्माके ज्ञानसैं कर्तापनैके अ-ध्यासकी निवृत्तितैं ॥ १९ ॥

६४७
॥ १९५ ॥ धीर कहिये ज्ञानीकूं प्रवृत्ति-विषै वा निवृत्तिविषै वा दुराग्रह नहीं है ॥ कैसे धीरकूं कि–प्रारब्धके वशतैं जब जो प्रवृत्त वा निवृत्त कर्म करनैकूं आवताहै तब ताकूं सुख जैसैं होवै तैसैं करिके स्थित होनैवालेकूं। प्रवृत्तिविषै वा निवृत्तिविषै दुराग्रह नहीं है ॥२०॥

॥ १९६ ॥ वासनारहित आलंबनरहित औ स्वतंत्र जो बंधनतैं मुक्त कहिये ज्ञानी। सो संस्कार कहिये प्रारब्धरूप पवनकरि प्रेऱ्या-हुया सूकेपत्रकी न्याई चेष्टा करताहै ॥२१॥

॥ १९७ ॥ संसाररहितकूं कहिये ज्ञानीकूं तौ कहां वी हर्ष नहीं औ खेद नहीं। याहीतें नित्य शीतलमनसहित हुया विदेहकी न्याई विराजताहै ॥ २२ ॥

॥ १९८ ॥ आत्माविषै है आराम जिसकूं। याहीतें धीर कहिये निश्चलचित्तवाले शीतल औ अतिनिर्मलमनवाले कहिये ज्ञानीकूं कहा वी त्यागकी इच्छा औ ग्रहणकी इच्छा वी नहीं है। वा कहां वी नाश कहिये अनर्थ वी नहीं है ॥ २३ ॥

॥ १९९ ॥ स्वभावसें विकाररहित चित्तवाले औ धीर औ अज्ञानीकी न्याई प्रारब्धके वशतें करनैवाले इस ज्ञानीकूं मान नहीं औ अपमान नहीं ॥ २४ ॥

॥ २०० ॥ ६७९ देहनैं यह कर्म किया। शुद्ध-रूप मैंनैं नहीं किया । ऐसी चिंताका अनुसारी जो है। सो करताहुया वी नहीं करता ॥ २५ ॥

॥ २०१ ॥ ६८१ जीवन्मुक्त। तिस किये कार्यकूं "मैं यह करूंगा" ऐसैं नहीं कहताहुयाहीं कार्यकूं करताहै तौ वी मूर्ख नहीं होवैहै । याहीतैं संसारके व्यवहारकूं करताहुया वी भीतर सुखी औ शोभावान है । यातैं शोभता-है ॥ २६ ॥

॥ २०२ ॥ ६८१ जातैं धीर कहिये ज्ञानी । नानाविचारतैं निवृत्त भयाहै । याहीतैं आत्माविषैहीं विश्रामकूं प्राप्त भया । याहीतैं संकल्पकूं करता नहीं। औ जानता नहीं। औ सुनता नहीं। औ देखता नहीं ॥ २७ ॥

॥ २०३ ॥ ^६६५^ज्ञानी। मुमुक्षु नहीं समाधिके न करनैतैं। औ बद्ध नहीं विक्षेप कहिये द्वैतभ्रमके अभावतैं ॥ तब कैसा है ज्ञानी कि:— "^६६६^यह सर्व कल्पित है" ऐसैं निश्चय करिके। पीछे बाधित भये प्रपंचकी प्रतीतिसैं देखताहुया बी महाशय कहिये निर्विकारचित्तवाला है। याहीतैं ब्रह्मरूपहीं स्थित होवैहै ॥ २८ ॥

॥ २०४ ॥ ^६७१^जाके अंतःकरणमैं अहंकारका अध्यास होवै । सो लोकदृष्टिसैं न करता- है तौ बी संकल्पकूं करताहै। औ अहंकार- रहित धीर कहिये ज्ञानीनैं *यद्यपि लोकदृष्टिसैं* किया तौ बी स्वदृष्टिसैं कछु बी नहीं किया२९

॥ २०५ ॥ ^६७४^मुक्तका चित्त विराजताहै कहिये केवल प्रकाशमानहीं है। काहेतैं कि:—जातैं उद्वेगकूं पावता नहीं द्वेषके अभावतैं । औ संतोषकूं पावता नहीं रागके अभावतैं । औ

कर्ताभावसैं रहित है औ संकल्पविकल्पतैं रहित है। औ आशारहित है। औ संदेहतैं रहित है। यातैं विराजताहै ॥ ३० ॥

६७८
॥ २०६ ॥ जिस ज्ञानीका चित्त। निष्क्रियभावकरि स्थित होनैकूं वा चेष्टा करनैकूं वी प्रवृत्त होता नहीं । किंतु यह ज्ञानीका चित्त निमित्त कहिये संकल्पतैं रहित हुया स्वरूपविषै निश्चल स्थित होवैहै। औ विविधचेष्टाकूं करताहै ॥ ३१ ॥

६७९
॥ २०७ ॥ मंद कहिये अज्ञानी यथार्थतत्त्वकूं श्रुतितैं सुनिके संशयविपर्ययकरि मूढताकूं पावताहै अथवा शास्त्रअर्थके साक्षात्कार अर्थ संकोच कहिये चित्तकी समाधिकूं पावताहै॥ कोईक अंतरतैं अमूढ वी बाहिरकी गतिसैं मूढकी न्याईं बाहिरके व्यवहारका कर्त्ता होवैहै ॥ ३२ ॥

॥ २०८ ॥ एकाग्रता वा निरोध मूढन-करि अत्यंत अभ्यास करियेहै । औ सुषुप्तिवान्की न्याई देहात्मबुद्धिसैं रहित होनैं-करि स्वस्वरूपविषै स्थित धीर कहिये ज्ञानी तौ पूर्वउक्त किसी वी कृत्यकूं देखते नहीं ३३॥

॥ २०९ ॥ मूढ जो है सो अप्रयत्नतैं वा प्रयत्नतैं परमसुखकूं पावता नहीं । औ प्राज्ञ जो है सो तत्त्वके निश्चयमात्रकरि कृतार्थ होवैहै ॥ ३४ ॥

॥ २१० ॥ तिसैं जगत्विषै अभ्यास-परायण जो जन हैं । वे शुद्ध बुद्ध कहिये चेतनरूप प्रिय पूर्ण निष्प्रपंच औ निरामय आत्माकूं नहीं जानतेहैं ॥ ३५ ॥

॥ २११ ॥ विमूढ जो है सो अभ्यासरूप कर्मसैं मोक्षकूं पावता नहीं । औ कोईक धन्य कहिये भाग्यवान् विज्ञानमात्रसैं अ-

विक्रिय कहिये अविद्याकामकर्मरहित औ याहीतैं मुक्त हुया स्थित होवैहै ॥ ३६ ॥

॥ २१२ ॥ मूँढ कहिये अज्ञानी जातैं चित्त-निरोधतैं ब्रह्म होनैकूं इच्छताहै। तातैं ब्रह्मकूं पावता नहीं। यह निश्चित है। औ धीर कहिये ज्ञानी न इच्छताहुया बी परब्रह्मके स्वरूपकूं भजता कहिये स्वस्वरूपसैं पावताहै ॥ ३७ ॥

॥ २१३ ॥ मूँढ अज्ञानी जे हैं। वे कारण-रहित दुराग्रहविषै संलग्न हैं । यातैं संसारके पोषण करनैवाले हैं। औ ज्ञानी-जनोकरि इस अनर्थरूप मूलवाले संसारके मूलका छेद कियाहै ॥ ३८ ॥

॥ २१४ ॥ मूँढं जातैं शम कहिये शांति-वान् होनैकूं इच्छताहै। यातैं शांतिकूं पावता नहीं। औ धीर कहिये ज्ञानी तत्त्वकूं निश्चय करिके सर्वदा शांतमनवाला है ॥ ३९ ॥

॥ २१५ ॥ ७०३ जांका देख्या दृश्यकूं विषय करताहै । ताकूं आत्माका दर्शन कहां है? कहां बी नहीं ॥ औ धीर जे हैं वे तिस तिस अंधकार दीपादिककूं देखते नहीं । किंतु अविनाशीआत्माकूं देखतैहैं ॥ ४० ॥

॥ २१६ ॥ ७०५ जो मूढ । चित्तके निरोधविषै दुराग्रहकूं करताहै । तिस मूढकूं कहां चित्तका निरोध है? कहां बी नहीं । अज्ञानिजननकूं समाधिकी निवृत्ति हुये चित्तके प्रसारणतैं ॥ औ आत्मारामधीरकूं सर्वदा यह चित्तका निरोध स्वाभाविक है ॥ ४१ ॥

॥ २१७ ॥ ७०६ कोईक नैयायिकादि भाव कहिये प्रपंचकी सत्ताका माननैहारा है । औ दूसरा शून्यवादी कछु बी नहीं ऐसैं माननैहारा है । कोईक आत्माके अनुभवकरि युक्त. दोनूं भाव—अभावका नहीं माननैहारा है ।

ऐसैंहीं दोनूं अभावकी भावनासैंहीं अव्याकुल स्वस्थचित्तवाला रहताहै ॥ ४२ ॥

॥ २१८ ॥ कुंबुद्धिवाले शुद्धअद्वैत-आत्माकूं भावना कहिये चिंतन करतेहैं परंतु जानते नहीं। मोहके होनेतैं। यातैं जहां-लगि जीवन है तहांलगि परमसंतोषतैं रहित हैं ॥ ४३ ॥

॥ २१९ ॥ मुमुक्षुकी बुद्धि। सधर्मक-वस्तुरूप आलंवन कहिये आश्रयविना नहीं होवैहै। औ मुक्तकी बुद्धि सर्वदा निराधार अरु निष्कामहीं होवैहै ॥ ४४ ॥

॥ २२० ॥ विषयरूप व्याघ्रकूं देखिके भयकूं पाये जो आत्माकी रक्षाके अर्थी कहिये मूढ। सो। तत्काल चित्तके निरोध औ एकाग्रताकी सिद्धिअर्थ गुहाके मध्यदेशके प्रति प्रवेश करतेहैं। ज्ञानी नहीं ॥ ४५ ॥

॥ २२१ ॥ वासनारहित पुरुषरूप केसरी कहिये सिंहकूं देखिके विषयरूप हस्ती असमर्थ हुये मौन जैसैं होवै तैसैं भागतैहैं। प्रियवादी पुरुषकी न्यांई हुये तिस निर्वासनिककूं ईश्वरकरि आकर्षित भये आपहीं आयके सेवतेहैं ॥ ४६ ॥

॥ २२२ ॥ निःशंक औ निश्चलमनवाला ज्ञानी । यमनियमादियोगक्रियाकूं आग्रहतैं धारण करता नहीं। किंतु जैसैं सुख होवै तैसैं लोकदृष्टिसैं देखताहुया। सुनताहुया। स्पर्श करताहुया । सूंघताहुया । खाताहुया। रहताहै ॥ ४७ ॥

॥ २२३ ॥ वस्तुके श्रवणमात्रसैं शुद्धबुद्धिवाला औ तातैं स्वस्वरूपमैं स्थित पुरुष। आचारकूं वा अनाचारकूं वा उदासीनताकूं देखता नहीं ॥ ४८ ॥

॥ २२४ ॥ जँवँ[७२४] जो शुभ वा निष्कर्म-पना वी अशुभकर्म करनैकूं आवताहै । तब ताकूं आग्रहरहित हुया करताहै । यातैं ताकी चेष्टा बालककी न्याई प्रारब्धसैं प्रेरी हुईहै । रागद्वेषके आधीन नहीं ॥ ४९ ॥

॥ २२५ ॥ स्वतंत्रतातैं[७२७] सुखकूं पावता-है । औ स्वतंत्रतातैं पर कहिये ज्ञानकूं पावता-है । औ स्वतंत्रतातैं परमसुखकूं पावताहै । औ स्वतंत्रतातैं परमपदकूं पावताहै ॥ ५० ॥

॥ २२६ ॥ पुरुष[७२९] जब अपनै आत्माके अकर्त्तापनैकूं औ अभोक्तापनैकूं मानताहै । तब सर्वचित्तवृत्तियां क्षीण होवैहैं ॥ ५१ ॥

॥ २२७ ॥ धीर[७३१] कहिये निस्पृहकी अवना-वटकी कहिये स्वाभाविक शांतिरहित वी स्थिति शोभतीहै ॥ मूढकी बनावटकी इच्छासहित चित्तकी शांति तौ नहीं शोभतीहै ॥ ५२ ॥

॥ २२८ ॥ [७३५] आसक्तिरहित मुक्तबुद्धि-वाले औ कल्पनारहित जे धीर। वे कवी महाभोगनकरि क्रीडा करतेहैं। औ कवी पर्वतके वनोके तांई प्रवेश करतेहैं ॥ ५३ ॥

॥ २२९ ॥ [७३६] धीर कहिये ज्ञानीकूं श्रोत्रिय कहिये पंडितके ताईं। देवताके ताईं औ तीर्थके ताईं पूजिके हृदयमैं कोई वी वासना नहीं होवैहै। औ स्त्रीके ताईं राजाके ताईं औ प्रिय कहिये पुत्रादिकके ताईं देखिके कोई वी कामनाके विषयरूप वस्तुकी वासना नहीं होवैहै ॥ ५४ ॥

॥ २३० ॥ [७३८] किंकर पुत्र स्त्रियां औ कन्याके पुत्र अरु गोत्रविषै उत्पन्न भये पुरुषकरि हसिके धिक्कारकूं पायाहुया योगी कहिये ज्ञानी किंचित् वी विकार कहिये चित्तके क्षोभकूं पावता नहीं। काहेतैं रागद्वेषके हेतु मोहके अभावतैं ॥ ५५ ॥

॥ २३१ ॥ लोकदृष्टिसैं[७४२] संतोषयुक्त हुया वी संतोषवान् नहीं। औ खेदकूं पाया-हुया खेदकूं पावता नहीं। तिस ज्ञानीकी तिस तिस आश्चर्यरूप दशाकूं तैसैं ज्ञानीहीं जानतैहैं ॥ ५६ ॥

॥ २३२ ॥ कर्त्तव्यताहीं[७४३] संसार है। ताकूं ज्ञानी देखतै नहीं। वे कैसे हैं किः— शून्यविषै है आकार जिनकूं औ याहीतैं निरा-कार औ निर्विकार औ संकल्परूप उपद्रवसैं रहित हैं ॥ ५७ ॥

॥ २३३ ॥ नहीं[७४४] करताहुया वी अज्ञानी सर्वठिकानैं संकल्पतैं एकाग्रतारहित होवै-है। औ लोकदृष्टिसैं कार्यनकूं करताहुया वी कुशल कहिये ज्ञानी निश्चित निश्चलचित्त-वाला होवैहै ॥ ५८ ॥

॥ २३४ ॥ प्रारब्धके वशतें व्यवहारके हुये वी शांतबुद्धिवाला कहिये ज्ञानी। आत्माका सुख जैसें होवै तैसें वैठताहै। औ सुखसें सोवताहै । औ सुखसें आवताहै। औ जाताहै। औ सुखसें बोलताहै । औ सुखसें खाताहै ॥ ५९ ॥

॥ २३५ ॥ व्यवहार करतेहुये जिस ज्ञानीकूं स्वभाव कहिये आत्मज्ञानके सामर्थ्यतें लोककी न्याई पीडा नहीं है । सो क्लेशरहित ज्ञानी। महाह्रद कहिये बडे जलके लड्डेकी न्याई क्षोभरहित हुया शोभताहै ॥६०॥

॥ २३६ ॥ मूढकी निवृत्ति वी प्रवृत्तिस्वरूप होवैहै औ ज्ञानीकी प्रारब्धतें प्रतीयमान प्रवृत्ति वी निवृत्तिके फल कहिये मुक्तिरूप परिणाम कहिये अंतवाली होवैहै ॥६१॥

॥ २३७ ॥ मूढ कहिये देहाभिमानीकूं धनगृहआदिकविषै बहुतकरिके वैराग्य देखियेहै । औ देहविषै गलित भईहै आशा जाकी ऐसै ज्ञानीकूं कहां राग है ? औ कहां विराग होवैगा ? ॥ ६२ ॥

॥ २३८ ॥ मूढकी दृष्टि सर्वदा भावनाविषै वा अभावनाविषै आसक्त कहिये लगीहै । औ स्वरूपविषै स्थित कहिये आत्मनिष्ठकी सो दृष्टि तौ दृश्यकी चिंतासैं युक्त देखियेहै । तौ बी दृश्यके दर्शनतैं रहितरूपवाली होवैहै ॥ ६३ ॥

॥ २३९ ॥ जो मुनि बालककी न्यांई निष्काम हुया सर्वआरंभनविषै वर्तताहै । तिस शुद्धकूं कर्मके कियेहुये बी लेप नहीं है ॥ ६४ ॥

७६३ ॥ २४० ॥ सोई आत्मज्ञानी धन्य है । जो सर्वपदार्थनविषै सम कहिये आत्मदर्शी है । औ याहींतें देखता सुनताहै । स्पर्श करता सूंघताहुया बी तृष्णारहित मनवाला है॥६५॥

७६४ ॥ २४१ ॥ आकाशकी न्यांई सर्वदा विकल्परहित धीर कहिये ज्ञानीकूं संसार कहिये प्रपंच कहां है ? औ आभास कहिये ताका भान कहां हैं ? स्वर्गादिकसाध्य कहां हैं ? औ यज्ञादिकसाधन कहां हैं ? ॥ ६६ ॥

७६६ ॥ २४२ ॥ सो अर्थ कहिये दृष्टअदृष्ट-फलका त्यागी औ याहीतें पूर्णस्वभाववाला है स्वरूप जाका । ऐसा जय कहिये सर्वसें उत्कर्षकूं पावताहै । सो कौन किः— जाका स्वाभाविक पूर्णस्वरूपविषै समाधि है सो।६७

७६९ ॥ २४३ ॥ इहां ज्ञानीविषै वहुतकहे लक्षणसैं क्या प्रयोजन है ? जातें ज्ञाततत्त्व

महाशय भोगमोक्षविषै इच्छारहित औ सदा सर्वत्र रस कहिये रागसैं रहित है ॥ ६८ ॥

॥ २४४ ॥ महत्तत्त्वादि जगद्रूप द्वैत नाममात्रकरि भिन्नकी न्यांई भासताहै। तहां कल्पनाकूं छोडिके स्थित भये शुद्धबोध-स्वरूपकूं क्या कृत्य कहिये कर्तव्य अवशेष रहताहै? कछु बी नहीं ॥ ६९ ॥

॥ २४५ ॥ अधिष्ठानके साक्षात्कार हुये यह सर्व भ्रमरूप "कछु बी नहीं है" ऐसैं निश्चयवाला औ अलक्ष्यके स्फुरणवाला औ याहीतैं शुद्ध जो है सो स्वभावसैं शांतिकूं पावताहै ॥ ७० ॥

॥ २४६ ॥ शुद्ध स्फुरणरूप औ दृश्य-भावकूं नहीं देखनेवाले ज्ञानीकूं विधि कहां है? औ वैराग्य कहां है? औ त्याग कहां है? वा शम बी करनैयोग्य कहां है? ॥ ७१ ॥

॥ २४७ ॥ अनंतरूपसैं प्रकाशमान औ प्रकृति कहिये कार्यसहित मायाकूं नहीं देखनैवालेकूं बंध कहां है? औ मोक्ष कहां है? वा हर्ष कहां है? वा खेद कहां है? ॥ ७२ ॥

॥ २४८ ॥ आत्मज्ञानरूप अंतवाले संसारविषै मायामात्र कहिये मायाविशिष्टचैतन्य विवर्तरूप कहिये कल्पितजगदाकार होवैहै। यातैं ज्ञानी ममतारहित है। औ अहंकाररहित है। औ निष्काम है। यातैं शोभताहै ७३

॥ २४९ ॥ अविनाशी औ संतापरहित-आत्माकूं देखनैवाले मुनिकूं विद्या कहिये शास्त्र कहां है? औ विश्व कहां है? वा देह कहां है? वा अहंममभाव कहां है? ॥ ७४ ॥

॥ २५० ॥ जैवं अज्ञानी चित्तनिरोध-आदिककर्मनकूं त्यागताहै। तब इसीहीं क्षणतैं आरंभकरिके मनोरथनकूं औ प्र-

लापनकूं करनैके लिये प्रवृत्त होताहै ॥७५॥

॥ २५१ ॥ मूर्ख तिस आत्मारूप वस्तुकूं सूनिके बी मूढताकूं त्यागता नहीं । यातैं प्रयत्नतैं बाहिरदृष्टिसैं व्यापाररहित हुया बी भीतर कहिये मनमैं विपयविषै लालसावाला होवैहै ॥ ७६ ॥

॥ २५२ ॥ जो ज्ञानतैं गलित कर्मवाला है । सो लोकदृष्टिसैं कर्मकूं करताहुया बी कछुबी करनैकूं वा बोलनैकूंहीं अवसर पावता नहीं ॥ ७७ ॥

॥ २५३ ॥ निर्विकार औ सर्वदा निर्भय ज्ञानीकूं अंधकार कहां है? वा प्रकाश कहां है? औ कछुबी त्याग कहां है? कछु बी नहीं ॥ ७८ ॥

॥ २५४ ॥ अनिर्वाच्यस्वभाववाले औ स्वभावरहित योगी कहिये ज्ञानीकूं धैर्य कहां

है ? वा विवेकीपना कहां है ? वा निर्भयता वी कहां है ? ॥ ७९ ॥

॥ २५५ ॥ ज्ञानीकूं स्वर्ग नहीं है । औ नरक नहीं है । औ जीवन्मुक्ति निश्चित नहीं है ॥ इहां वहुत कहनेसं क्या है ? ज्ञानी-कूं ज्ञानदृष्टिसें कछु वी नहीं है ॥ ८० ॥

॥ २५६ ॥ ज्ञानीका चित्त अमृत कहिये परमानंद करीहीं पूरित हुया शीतल है । यातें लाभके ताई प्रार्थना करता नहीं औ सुवर्णआदिकके अलाभकरि शोककूं करता नहीं ॥ ८१ ॥

॥ २५७ ॥ निष्काम कहिये ज्ञानी शांतियुक्तकूं स्तुति करता नहीं औ दुष्टकूं निंदता वी नहीं औ तृप्त हुया समान दुःख-सुखवाला होवैहै । औ निष्काम होनैतें किंचित् कृत्यकूं देखता नहीं ॥ ८२ ॥

॥ २५८ ॥ ज्ञानी। संसारके प्रति द्वेष करता नहीं औ आत्माके प्रति देखनैकूं इच्छता नहीं। किंतु हर्ष औ रोषतें रहित हुया मृतक नहीं औ जीवता नहीं ॥ ८३ ॥

॥ २५९ ॥ आशारहित ज्ञानी शोभता-है ॥ सो कैसा है किः–पुत्रदारादिकविषै स्नेह-रहित है। औ विषयनविषै निष्काम है। स्वशरीरविषै वी निश्चिंत है ॥ ८४ ॥

॥ २६० ॥ यथाप्रासकरि वर्त्तनैवाले औ स्वच्छंद कहिये अपेक्षारहित जैसैं होवै तैसैं प्रारब्धके वशतें नाना देशोंके प्रति विचरनै-वाले औ जहां सूर्य अस्तकूं पाया तहांहीं शयन करनैवाले धीर कहिये ज्ञानीकूं सर्वत्र तुष्टि कहिये आत्मसंतोष है ॥ ८५ ॥

॥ २६१ ॥ देह गिरो कहिये मरो । वा उदयकूं पावो कहिये जीवो । दोनूं भांतिसैं वी इस महात्मा कहिये ज्ञानीकूं चिंता नहीं है । कैसे महात्माकूं किः- निजस्वरूपमय भूमिविषै विश्रामकरि । विसर गयाहै सर्व संसार जिसकूं ॥ ८६ ॥

॥ २६२ ॥ केवल कहिये निर्विकारज्ञानी रमताहै ॥ कैसा है ज्ञानी किः- परिग्रहसैं रहित स्वच्छंद विचरनैवाला द्वंद्व कहिये सुखदुःखादिकसैं रहित संशयरहित औ सर्वपदार्थनविषै आसक्तिरहित है ॥ ८७ ॥

॥ २६३ ॥ ज्ञानी शोभताहै । जातैं ममतारहित है । औ समान है मट्टीका खडा औ सुवर्ण जिसकूं । ऐसा है ॥ औ भेदनकूं पायाहै हृदयग्रंथि जिसकूं । ऐसा है ॥ औ धोयाहै रजतम जिसनैं । ऐसा है ॥ ८८ ॥

॥ २६४ ॥ सर्वे विषयनविषै एकाग्रता-रहित किंचित् वासनातैं रहित हृदयविषै मुक्त कहिये कर्तृत्वअध्यासरहित है आत्मा जिसका । औ आत्माके आनंदकरि तृप्तकी किसके साथि तुलना होवैगी? ॥ ८९ ॥

॥ २६५ ॥ निर्वासनै कहिये ज्ञानीतैं अन्य ऐसा कौन है कि:— जो लोकदृष्टिसैं जानता-हुया वी नहीं जानताहै औ देखताहुया वी नहीं देखताहै औ बोलताहुया वी बोलताहै ॥ ९० ॥

॥ २६६ ॥ जो ज्ञानीकी श्रेष्ठअश्रेष्ठपदार्थ-नविषै शोभनअशोभनबुद्धि गलित भई-है । याहीतैं जो निष्काम है । सो भूपति है वा भिक्षु है । तौ वी शोभताहै ॥ ९१ ॥

॥ २६७ ॥ निष्कपट सरलरूप औ यदितार्थ नामवाले योगीकूं स्वतंत्रता कहां है? वा संकोच कहां है? वा तत्त्वका निश्चय कहां है? ॥ ९२ ॥

॥ २६८ ॥ आत्माविषै विश्रामकरि तृप्त आशारहित औ पीडारहित ज्ञानीकरि अंतरविषै जो अनुभव करियेहै सो कैसें किस अधिकारीकूं कहियेहै ॥ ९३ ॥

॥ २६९ ॥ धीर कहिये ज्ञानी । सुषुप्तिके हुये बी सुषुप्तिवान् नहीं औ स्वप्नके हुये बी सोया नहीं औ जाग्रत्के हुयेबी जागता नहीं । यातें पदे पद कहिये क्षणक्षणविषै तृप्त है ॥९४॥

॥ २७० ॥ ज्ञानी । चिंतासहित बी निश्चित है । औ इंद्रियसहित हुया बी इंद्रियरहित है । औ बुद्धिसहित हुया बी बुद्धिरहित है । औ अहंकारसहित हुया बी

अहंकाररहित है ॥ ९५ ॥

॥ २७१ ॥ ज्ञानी सुखी नहीं औ दुःखी नहीं । वा विरक्त वा संगवान् नहीं औ मुमुक्षु नहीं वा मुक्त नहीं औ किंचित् नहीं औ कछु वी नहीं ॥ ९६ ॥

॥ २७२ ॥ धन्य कहिये ज्ञानी । विक्षेपके हुये वी विक्षेपवान् नहीं । समाधिके हुये वी समाधिवान् नहीं । जडताके हुये वी जड नहीं औ पंडितताके हुये वी पंडित नहीं ॥ ९७ ॥

॥ २७३ ॥ मुक्त । जातैं यथाप्राप्त-स्थितिके हुये वी स्वस्थचित्तवाला है । तथा कीये औ करनैके कर्मविषै संतोषवान् है । औ सर्वत्र सम है । यातैं तृष्णाके अभावतैं यह नहीं कीया औ कीया । ऐसैं स्मरण करता नहीं ॥ ९८ ॥

॥ २७४ ॥ वंदनोंकूं पायाहुया प्रसन्न होता नहीं औ निंदाकूं पायाहुया कोपकूं करता नहीं औ मरणके समीपस्थित हुये उद्वेगकूं पावता नहीं औ जीवनके हुये संतोषकूं पावता नहीं ॥ ९९ ॥

॥ २७५ ॥ शांतबुद्धिवाँलापुरुष। जनोंकरि व्याप्त देशके प्रति औ वनके प्रति दौडता नहीं । किंतु जैसेंतैसं जहांतहां समहीं स्थित होवैहै ॥ १०० ॥

इति श्रीपंडितपी० निरचितानामष्टावक्रगीताटीकायां शांतिशतक नामाष्टादशकं प्रकरणं समाप्तम् ॥१८॥

अथ आत्मविश्रांत्यष्टकं नाम एकोनविंशतिकं प्रकरणं ॥ १९ ॥

॥ दोहा ॥

साध्य रु साधनरूपसैं गुरुमुख जाने ज्ञान ।
आतममैं विसांति शिष कहे अष्टकरि आन ॥१॥

॥ २७६ ॥ [८५४]हे गुरो ! मैंनैं आपतैं तत्त्वज्ञान-रूप सांडसी कहिये पकडनैके साधनरूप चिंमटेके सदृश लोहके शस्त्रकूं लेके अपनैं हृदयसहित नानाप्रकारके विचाररूप कीलमका उद्धार किया ॥ १ ॥

॥ २७७ ॥ [८५७]स्वमहिमामैं स्थित भये मुज-कूं धर्म कहां है? औ काम कहां है? वा अर्थ कहां है? औ विवेक कहां है? औ द्वैत कहां है वा अद्वैत कहां है? । अद्वैतकूं द्वैतकी अपेक्षा-सहित होनैंकरि अस्वाभाविक होनैंतैं ॥ २ ॥

॥ २७८ ॥ [८६०]नित्य स्वमहिमामैं स्थित भये मुजकूं भूत कहां है? वा भविष्य कहां है? वा वर्तमान बी कहां है? वा देश कहां है? ॥३॥

॥ २७९ ॥ [८६२]स्वमहिमामैं स्थित भये मुज-कूं व्याप्यकी अपेक्षा करिके कहियेहे ऐसा आत्मा कहिये व्यापक कहां है? औ अनात्मा

कहां है? वा शुभ कहां है? तथा अशुभ कहां है? औ चिंता कहां है? वा अचिंता कहां है? ४

॥ २८० ॥ स्वमहिमामें स्थित भये मुजकूं स्वप्न कहां है? वा सुषुप्ति कहां है? औ जागरण कहां है? तथा तीनके अभावतें तुरीय अवस्था वी कहां है? वा भयआदिक अंतःकरणका धर्म वी कहां है? ॥ ५ ॥

॥ २८१ ॥ स्वमहिमामें स्थित भये मुजकूं दूर कहां है? वा समीप कहां है? वा वाहिर कहां है? वा भीतर कहां है? वा स्थूल कहां है? वा सूक्ष्म कहां है? ॥ ६ ॥

॥ २८२ ॥ स्वमहिमामें स्थित भये मुजकूं मृत्यु कहां है? वा जीवित कहां है? वा भूआदिकसप्तलोक कहां हैं? वा लौकिककार्य कहां है? वा लय कहां है? वा समाधि कहां है? ॥ ७ ॥

॥ २८३ ॥ आत्माविषै विश्रांत कहिये स्थित भये मुजकूं त्रिवर्ग कहिये धर्मअर्थ-कामकी कथाकरि बहुत भया औ योगकी कथाकरि बी बहुत भया औ ज्ञानकी कथा-करि बी बहुत भया ॥ ८ ॥

इति श्रीपंडितपीतांवरविरचितायामष्टावक्रगीताभाषाटीकायां आत्मविश्रांत्यष्टकं नामैकोनविंशतिकं प्रकरणं समाप्तम्॥१९॥

अथशिष्यप्रोक्तंजीवन्मुक्तिचतुर्दशकं नाम विंशतिकं प्रकरणं ॥ २० ॥

॥ दोहा ॥

आतमस्थिति फल विदुषककी प्रकृती मुक्तिसमेत।
जीवन्मुक्ति दसा कहे सिष चवदस करि वेत॥१॥

॥ २८४ ॥ निरंजनरूप मेरे स्वरूपविषै भूत कहिये आकाशादिक कहां है ? वा देह कहां है ? वा इंद्रिय कहां हैं? वा मन कहां है ? वा शून्य कहां है? औ नैराश्य कहिये आशाका

अभाव बी स्वाभाविक कहां है? ॥ १ ॥

॥ २८५ ॥ सँदा द्वंद्वरहित मुजकूं शास्त्र कहां है? वा आत्मज्ञान कहां है? वा निर्विषयमन कहां है? वा तृप्ति कहां है? वा तृष्णारहितता कहां है? ॥ २ ॥

॥ २८६ ॥ मुंजविषे विद्या कहां है? औ अविद्या कहां है? वा अहं कहिये अहंकार कहां है? वा इदं कहिये बाह्यवस्तु कहां है? वा मम कहिये मेरा कहां है? औ बंध कहां है? वा मोक्ष कहां है? औ निर्विशेष स्वरूप मुजकूं धर्मवार्ता कहां है? ॥ ३ ॥

॥ २८७ ॥ सर्वदा निर्धर्मक मुजकूं प्रारब्धकर्म कहां है? वा जीवन्मुक्ति बी कहां है? वा सो विदेहमुक्ति कहां है? ॥ ४ ॥

॥ २८८ ॥ सँदा स्वभावरहित मुजकूं कर्ता कहां है? औ भोक्ता कहां है? वा क्रिया-

रहितता कहां है ? वा स्फुरण कहां है ? वा अपरोक्ष कहिये वृत्तिरूप ज्ञान कहां है ? वा फल कहिये विषयाकारवृत्तिअवच्छिन्न चैतन्य कहां है ? ॥ ५ ॥

॥ २८९ ॥ आत्मारूप अद्वैतस्वस्वरूपके होते लोक कहां है ? वा मुमुक्षु कहां है ? वा योगी कहां है ? वा ज्ञानवान् कहां है ? औ बद्ध कहां है ? वा मुक्त कहां है ? ॥ ६ ॥

॥ २९० ॥ आत्मारूप अद्वैत स्वस्वरूपके होते । सृष्टि कहां है ? औ संहार कहां है ? औ साध्य कहिये फल कहां है ? औ साधन कहां है ? औ साधक कहां है ? वा सिद्धि कहां है ? ॥ ७

॥ २९१ ॥ सदानिर्मलरूप मुजकूं प्रमाता कहां है ? वा प्रमाण कहां है ? औ प्रमेय कहां है ? औ प्रमा कहां है ? औ किंचित् कहां है ? वा नकिंचित् कहां है ? ॥ ८ ॥

॥ २९२ ॥ सर्वदा क्रियारहित मुजकूं विक्षेप कहां है? औ एकसत्ता कहां है? औ बोध कहां है? औ मूढता कहां है? औ हर्ष कहां है? वा खेद कहां है? ॥ ९ ॥

॥ २९३ ॥ सर्वदा विशेषतें वृत्तिशून्य मुजकूं यह व्यवहार कहां है? वा सो परमार्थता कहां है? औ सुख कहां है? वा दुःख कहां है? ॥ १० ॥

॥ २९४ ॥ सर्वदा निर्मलरूप मुजकूं माया कहां है? औ संसार कहां है? औ प्रीति कहां है? वा विरति कहिये अप्रीति कहां है? औ जीव कहां है? औ सो ब्रह्म कहां है? ॥ ११

॥ २९५ ॥ कूटस्थ कहिये क्रियारहित औ निर्विभाग कहिये भेदरहित औ सर्वदा स्वस्थरूप मुजकूं प्रवृत्ति कहां है? वा निवृत्ति कहां है? औ मुक्ति कहां है? औ बंधन कहां है?॥१२॥

॥ २९६ ॥ निरुपाधिक शिव कहिये कल्याणरूप मुजकूं उपदेश कहां है? वा शास्त्र कहां है? औ शिष्य कहां है? वा गुरु कहां है? वा पुरुषार्थ कहिये मोक्ष कहां है? ॥ १३ ॥

॥ २९७ ॥ मुजकूं अस्ति कहां है? वा नास्ति कहां है औ एक कहां है अरु दो कहां हैं? इहां बहुत कहनेसें क्या है:—मुज एकरस चेतनकूं कछु बी प्रकाशता कहिये भासता नहीं ॥ १४ ॥

इति श्रीपंडितपीतांबरविरचितायामष्टावक्रगीताभाषाटीकायां शिष्यप्रोक्तं जीवन्मुक्तिचतुर्दशकं नाम विंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २० ॥

॥ अथ संख्याक्रमव्याख्यानं नाम एकविंशतिकं प्रकरणं ॥ २१ ॥

॥ दोहा ॥

संख्यमैं मति सुकरता । जानि ग्रंथका स्पष्ट ।
श्लोक सु संख्यापूर्व कहि । अनुक्रमनिका स्पष्ट ॥

॥ २९८ ॥ षोडशश्लोक गुरुके उपदेशरूप प्रथमप्रकरणविषै हैं । औ पचीसश्लोक । शिष्य-प्रोक्त आत्मानुभवोल्लासरूप द्वितीयप्रकरण-विषै हैं । औ चतुर्दशश्लोक गुरुप्रोक्त आक्षेप मुद्राकरि उपदेशनामक तृतीयप्रकरणविषै हैं॥ १॥

॥ २९९ ॥ षट्श्लोक शिष्यप्रोक्त अनुभव-उल्लासनामक चतुर्थप्रकरणविषै हैं । औ च्यारीश्लोक गुरुप्रोक्त लयनामक पंचमप्रक-रणविषै होवैहैं ॥ फेर च्यारी श्लोक । गुरु-प्रोक्त प्रतिवादीकरि सिद्ध लयके निषेधके उपदेश नामक षष्ठप्रकरणविषै हैं । औ श्लोकनका पंचक शिष्यप्रोक्त अनुभव नामक सप्तमप्रकरण-विषै होवैहैं । औ श्लोकनका चतुष्क गुरुप्रोक्त बंधमोक्षनामक अष्टमप्रकरणविषै होवैहैं ॥ २ ॥

॥ ३०० ॥ गुरुप्रोक्त निर्वेद नामक नवम-प्रकरणसहित गुरुप्रोक्त उपशमनामक दशम-

प्रकरणविषै औ गुरुप्रोक्त ज्ञाननामक एकादश-प्रकरणविषै औ शिष्यप्रोक्त एवमेवनामक द्वादशप्रकरणविषै श्लोकनका अष्टक होवैहै। औ शिष्यप्रोक्त यथासुखनामक त्रयोदश-प्रकरणविषै श्लोकनका सप्तक होवैहै। औ शिष्यप्रोक्त शांतिनामक चतुर्दशप्रकरणविषै श्लोकनका चतुष्क होवैहैं ॥ ३ ॥

॥ २०१ ॥ [१५७] वीसश्लोक। गुरुप्रोक्त तत्त्वोपदेशनामक पंचदशप्रकरणविषै होवैहैं। औ दशश्लोक। गुरुप्रोक्त विशेषज्ञानोपदेशक नाम षोडशप्रकरणविषै होवैहैं। औ वीस-श्लोक। गुरुप्रोक्त तत्त्वज्ञस्वरूपउपदेश नामक सप्तदशप्रकरणविषै होवैहैं औ गुरुप्रोक्त शम कहिये शांतिनामक अष्टादशप्रकरणविषै श्लोकन-का शतक होवैहैं ॥ ४ ॥

॥ ३०२ ॥ शिष्यप्रोक्त आत्मविश्रांतिनामक एकोनविंशतिप्रकरणविषै श्लोकनका अष्टक है। औ शिष्यप्रोक्त जीवन्मुक्तिनामक विंशतिप्रकरणविषै चतुर्दश श्लोक हैं। औ गुरुप्रोक्त संख्याक्रमके विज्ञान नामक एकविंशतिप्रकरणविषै षट् श्लोक हैं। तिसके पीछे उक्त-षट्श्लोकनके मध्यअंतके श्लोककरि एकविंशति-खंड औ श्लोकनकरि ग्रंथकी एकरूपता कही-है ॥ ५ ॥

॥ ३०३ ॥ एकविंशति खंडनकरि औ तीनसैं दो ३०२ श्लोकनकरि अवधूतकी अनुभूतिरूप या ग्रंथकी संख्याके क्रमवाले ये श्लोक कहे। यद्यपि इस अंतके श्लोककरि या ग्रंथके ३०३ श्लोक हैं। तथापि दशमपुरुष-की न्याईं यह श्लोक आपकूं छोडिके अन्योकी

परिगणना करताहै । यातें ३०२ कहेहैं ॥ ६ ॥

इति श्रीमद्बापुसद्गुरुपूज्यपादशिष्यपीतांबराव्हविदुषा विर-
चितायामष्टावक्रगीताभाषाटीकायां संख्याक्रमव्याख्यानं
नामैकविंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २१ ॥

॥ समाप्तेयमष्टावक्रगीता ॥

॥ ॐ गुरुदेवाय नमः ॥

॥ श्रीआधुनिकविद्याविलास ॥

॥ मनहर छंद ॥

ईथरसैं नेब्युला रु सूर्य तारा ग्रह चंद्र ।
अनंत अचेतन रु चेतन विकार है ॥
देश-काल-कारण रु कार्यकी प्रतीति होत ।
फेरि कार्य कारणमैं होत तदाकार है ॥
ऐसै चक्र-भ्रमण अनादि भासमान होत ।
ताहिमैं असार ग्रही भ्रमत गमार है ॥
साररूप आपकूं पिछानीके कृतार्थ होत ।
निराकार आतमा असंग निर्विकार है ॥१

१ संपूर्ण अवकाश विषै पूर्ण मान्या पदार्थ ॥
२ जीवनरहित ॥ ३ जीवनयुक्त ॥

तारे⁴ सर्व सूर्य हैं फिरत अतिवेगमांहि ।
सूर्यकूं प्रदक्षिणा अनेकग्रह करैहैं ॥
ग्रहपर चेतन अचेतन उपजिकरि ।
अहार विहार भोग वश भय धरैहैं ॥
स्वप्नव्यवहारविषै अज्ञतासैं निशदिन ।
विचरै विचारविना अंतकाल हरैहैं ॥
सर्वदृश्य हेतुविना होतहै अदृश्य पुनि ।
दृश्यभ्रम⁵ भ्रमहीन-आतमामैं ठरैहैं ॥ २
जीवत जगत लेश सूर्यके प्रकाशकरि ।
उष्णतासैं होत जडचेतन व्योहार है ॥
काष्ट तैल दीपनकी अग्नि सूर्यके प्रभाव ।
देहकी वी उष्णता तौ सूर्यके आधार है ॥

४–अष्टग्रहनकूं छोडिके जितनैं तारे आकाशविषै प्रतीत होवैहैं । वे सर्व ॥
५–दृश्यभ्रमका अंत होवैहै ॥

सूर्य औ प्रकाश अरु उष्णतादि जानत न-
आपकूं न अन्यकूं वे निश्चे जडाकार है॥
जीव शीव सूर्य तेज धूप आदि ये प्रपंच
आत्मज्योतिके प्रभाव होत तदाकार है॥२

सूर्यनकी दुर्विनसैं कोटितैं गिनति होत।
फोटोग्राफसैं अनेक अन्यकोटी जानिये॥
पृथ्वीसैं असंख्यपुट-योजनके देशमांहि।
भ्रमत अपार सूर्य चंद्र ग्रह मानिये॥
निजाकर्षवलकरि खींचत परसपर।
यह विधि-वश जड-गतिहीं प्रमानिये॥
तथापि ये कथा सर्व मेरिहीं है कल्पनासैं।
मैंहीं आत्मदेव जानि भ्रांति सद्य भानिये४

तेजवेग पलमांहिं एकलक्ष ऐंसीसत्र-
मैल चलै ऐसै गिन्यो खगोलके ज्ञानतैं॥

सूर्यतेज अष्टपल-मांहि आवै भूमिपर ।
अन्यसूर्यतेजकूं अनेक[६]वर्ष मानतैं ॥
दोहज़ारवर्ष पीछे तेज आवै ऐसै सूर्य
गिनेहैं सो लोप भये वँर्ष तेते जानतैं ॥
देश है अगाध अरु सूर्य हैं असंख्य तातैं
ज्ञानरूप मैंहीं जानि माया सद्य भानतैं॥५
जगत केलाइडोसकोप सम देखियत ।
तेजवेग ईथरमैं लहरि लहंत है ॥

६–अन्यसूर्य ऐसै हैं कि तिनके प्रकाशकूं पृथ्वीपर आनैकूं अनेकवर्ष लगैहैं ॥

७–कितनेक सूर्य ऐसै दूर हैं कि तिनका प्रकाश पृथ्वीपर दोहजारवर्षसैं आवताहै । तातैं तैसै सूर्यनका लोप । लोप भये पीछे दोहजारवर्षसैं ज्ञात होवैहै ॥

८–एक नलिकाविषै आदर्शकी तीनपटी औ रंग-रंगके काचकी कितनीक छोटी टुकडीयां राखीके तामैं देखनैसैं अनेक सुंदर चित्रविचित्र आकृतियां

वेगके प्रभाव तेज । तेजके प्रभाव वेग ।
  इनके प्रभाव वहु नेव्युलि कहंत हैं ॥
नेव्युलिसें सूर्य ग्रह चंद्र पृंछतारे होत ।
  ग्रहोंपर वृक्ष आदि जंतु तौ रहंत हैं ॥
फेरि वेग तेजसें वे ईश्वरस्वरूप होत ।
  यही इंद्रजालबाजी जानें सोहीं संत हैं ॥६
खगोलमें गिन्यो पृथिव्यादियुक्त-सूर्य चार-
  लक्षमेल एकऔर प्रतिदिन धावैंहैं ॥
काल पाई अन्यसूर्य-साथि भुटकाइ करि ।
  पृथिव्यादि वे संघात चूर्ण होई जावैंहैं ॥
ऐसें भयो चूर्ण पुनि अन्यकोई सूर्यमांहि
  मिलिजाय संभव खगोल ग्रंथ गावैंहैं ॥

दिखतीहैं औ ये नलिकाकूं फिरानेसें पलपलमें नवीनसुंदरआकृतियां होवैंहैं ॥ यह नलिकाकूं "केलाइडोसकोप" कहैहैं ॥

सूर्यआदि सर्व शीत होई तेज त्यागे तातैं।
विनाशी आडंबर ये तुच्छ नाम पावैहै॥ ७
स्वप्नविषै स्वप्न सत्य होत जागेतैं असत्य।
जागृत असत्य पुनि ज्ञानके प्रभावतैं॥
नित्य-सत्य आत्मदेव अन्य हैं असत्य एव।
ऐसो ज्ञान होत है विचारके प्रभावतैं॥
स्वप्नके पदारथमैं देशकालकृत भेद।
तैसो भेद जागृतमैं देशकाल भावतैं॥
तथापि मैं-सत्यविषै इहां उहां भेद कहां।
अचल अखंड देशकालके अभावतैं॥८
गतिविना देश नहीं देश विना गति नहीं।
उभयकी अस्ति स्पर्श आदि करी भई है॥
गति-ज्ञानके अधीन काल अरु देश ज्ञान।
वस्तुमति गतिमति प्रतिक्षण नई है॥
गतिकरि अन्यगति कैसैं उतपन्न होत।
शक्तिकरि गति कहैं शक्ति कहां रई है॥

शक्तिका स्वरूप सिद्ध होत नहीं कदाचित।
यातें देश काल गति शक्ति मनोमयी है॥९

भूत वा भविष्यका विचार वर्त्तमानविषें
होत तातें भूत औ भविष्य जूठ मानिये॥

वर्त्तमानका प्रमाण सूक्ष्म क्षणअंशसें वी।
चित्तसें न ग्राह्य होत तथापि वखानिये॥

गतिविना कालकी न मति होत कदाचित।
यातें काल वस्तु नहीं कल्पनाहीं जानिये॥

इंद्रियसें गतिज्ञान गतिसेंहीं कालज्ञान।
ज्ञानका प्रकाशक मैं अन्य न प्रमानिये१०

देश-काल-कारणकी वस्तुता तौ लेश नहीं।
मनोमात्र-कल्पना है निर्विवाद भया है॥

९—आधुनिक युरोपवासी विद्वान अवकाश औ कालकी वस्तुताका निषेध करैहैं॥

ताकी सत्यानंतता तौ भासत है भ्रांतिकरि ।
इनके असत्य किये दृश्यमात्र गंया है ॥
प्रतिपल स्मृतिसंग दृश्य तौ प्रकट होत ।
जागृत-जगत सर्व स्वप्नवत नया है ॥
इनको प्रकाशक है सर्वदा अखंड एक ।
जामैं लेश देश काल कारण न रह्या है॥११
नरनारी उभयके दोनुं-जंतु गर्भमांहि ।
क्रिया करी मूल जातिके समान होत हैं ॥
जलचर थलचर व्योमचर प्राणिनमैं ।
वृक्ष पुष्पमैं बी क्रियाविधि यही प्रोत है॥
जंतुविना जंतुका न होत जन्म कहुं कदा ।
तथापि ये इंद्रजालसैं न न्यून पोत है ॥
इसी इंद्रजालमांहि मनुष्यशरीर करि ।
तत्त्वके विचार किये प्राप्त आत्मज्योत है॥

१०–देश-काल-कारणकी असत्यता सिद्ध होनेतें दृश्यमात्रकी असत्यता सिद्ध होवैहै ॥

[11]एमिबा समान अतिसूक्ष्म जंतु कोटिनसैं-
मिलिके शरीरसर्व जगतमैं आवैहैं ॥
मांस रु रुधिर हाड आदि सर्वभाग इन-
जंतुनसैं निशदिन वनि नाश पावैहैं ॥
अनुमान प्रतिसप्त-वर्षमैं नवीन देह-
होवै तामैं जंतु प्रति-क्षण आवै जावैहैं ॥

११—एमीबा। अतिसूक्ष्मजंतुनकी जातिका नाम है॥ यह जंतुकूं अन्यप्राणिनकी न्यांई हस्तपादमस्तकआदिक-अव्यव हैहीं नहीं। मात्र मुरब्बे जैसा एक अतिसूक्ष्मबिंदु-रूप है। सो सूक्ष्मदर्शकयंत्रविना देखनैमैं आवता नहीं॥ थोडेक्षण सिवाय सर्वदा इसकी आकृति बदलती रहतीहै॥ अपनै शरीरकूं लंबा टूंका करताहै औ तिसकूं-हीं अनेकअसमानअंगुलियांजैसी आकृतिरूपसैं निकाली-के अतिसूक्ष्मभोजनकूं ग्रहण करताहै ओ मलत्यागादि-क्रियाकूं करताहै॥ इत्यादि इनकी चेष्टा स्वाभाविकबुद्धि (इन्स्टिक्ट)पूर्वक देखनैमैं आवतीहै॥

प्रतिएक सूक्ष्मजंतुकी है व्यष्टि तासु बनै-
अनंत जो विश्व सो विराटदेह गावैहैं १२
अतिसूक्ष्म जंतुकरि होवत अनेक जंतु ।
अगिनित जंतुका शरीर-एक कहैहैं ॥
जंतुनके जन्म अरु मृत्युका प्रवाह जल-
थल-वायु-देहविषै सिंधुसम वहैहै ॥
तामैं हर्ष शोक हानि वृद्धि मूर्खतासैं मानि।
प्राणि सर्व पची पची दुःखकूंहीं सहैहै ॥
एकहीं अज्ञान गये जन्म अरु मरणकी-
घटमाल स्वप्नवत आतमामैं लहैहै॥१४॥
शरीरसैं वाह्य वृत्ति वस्तुके समान होत
ऐसी शास्त्रविषै यदि प्रक्रिया दिखात है॥
तथापि प्रकाश-दृष्टि-शब्द-स्पर्शके नियम
लखी ग्रंथ-आधुनिक [१३]औरहीं सिखात है॥

१२-पदार्थमात्रकी प्रतीति शरीरसैं वाह्य नहिं है।
ऐसा बोध करतैहै ॥

शरीरसें बाह्य कोइ वस्तुकी प्रितीति नहीं ।
ऐसें मानें मनोमय जगत लिखात हैं ॥
यातें यह प्रक्रिया है श्रेष्ठ सो समुजीकरि ।
कल्पितका अधिष्ठान आतमा विख्यात है॥
अंतःकरण-वृत्ति विना कोइ सृष्टि नहीं ।
प्राणिमात्र वृत्तितंहीं सृष्टिकूं वनावेंहैं ॥
आपकृत सृष्टि आपहीं यथार्थ जानि सकें ।
अन्य नहीं जानें अनुमान करी गावेंहैं ॥
क्षण क्षण सृष्टि होत तातें क्षणभंगुर है ।
तामें सुखदुःख मानि क्षोभ सठ पावेंहैं ॥
वृत्ति अरु ताकी सृष्टि स्वप्नवत् जानि संत
ज्ञानतेज करि भव-जालकूं जलावेंहैं ॥ १६
आतमा अनातमाका भेद तौ शरीरकरि ।
शरीरके बाधतें न आतमा अनातमा ॥
प्रपंचका बाध होत शरीरके बाधसाथि ।
शेष रह्या बाधक अबाध्य परमातमा ॥

शरीरमैं आत्मबुद्धि बालपनमांहि भई ।
ताके पीछे शरीरहीं दृढ भया आतमा॥
गुरुमुख-श्रवण मनन निदिध्यास किये ।
भ्रांति भंग होय तब होवत चिदातमा१७
सूर्य ग्रह चंद्र अरु प्राणधारि आदिसर्व-
अनंत उपजि स्थिति पाय होत नाश है॥
इंद्रियके पंचकसैं बुद्धिमैं प्रतीति होय ।
तामैं हेतु भाषा अरु बालपनाभ्यास है ॥
भाषाकी विस्मृति भये जगत-प्रतीति कहां?
कहां जीव कहां शीव कहां अन्य भास है?
भाषा मन इंद्रिय जगत आदि इंद्रजाल
भाव वा अभाव ज्ञानरूपके प्रकाश है॥१८
बाह्यवस्तु-स्थितिविषै सत्यताकूं मानि जन।
जानत न भ्रांतिमय मनको विकार है॥
सत्य वा असत्य कहो सार वा असार कहो।
जोइ कछु कहियें सो मनको चितार है॥

जीव कहो शीव कहो और वी वनाय कहो ।
वाणिका विषय सदा मनोमयाकार है॥
सर्वका निषेध "नेति नेति" करी होइ जात ।
एक न निषेध होत जो निषेधकार है॥१९
जो जो उतपन्न होत सो अवश्य नाश होत ।
नेब्युली रु सूर्य चंद्र ग्रहापा विनाश जूं॥
जलचर थलचर नभचर आदि जंतु ।
जन्म धरी स्थिति करी मरी होय नाश जूं॥
ऐसो दृष्टनष्ट जग देखत सकल जन ।
तथापि करत क्रिया धारि दीर्घ आश जूं॥
उतपति स्थिति नाश मनकरि मानीयत ।
स्वप्नवत होत आत्मदेवविषै भास जूं॥२०
मनके जागै जगत सोवै तौ सोवै जगत ।
एसो अनवय-व्यतिरेक निरधारिये ॥
सुखदुःख शंका समाधान तर्क वितर्क रु
बंधमोक्ष मनकरि तातैं मन मारिये॥

जागृत सुषुप्ति स्वप्न दशा मनकरि होत ।
क्षणक्षण परिणामि मन-मूल जारिये ॥
भ्रम मन-मूल ज्ञान-अग्निकरि जरि जात ।
ज्ञानरूप आतमामैं भ्रम कहां धारिये॥२१
जैसा जाका निश्चय है तैसा ताकूं भासत है
अनिरवचनीय मुमुक्षु जग जानैंहैं ॥
अज्ञ ताकूं सत्य मानैं ज्ञानि ताकुं तुच्छ जानैं ।
बंध मानैं बद्ध कोइ मोक्षकूंहि मानैंहैं ॥
द्वैतमत-वादिनकूं द्वैतहीं प्रतीत होत ।
वेदांतानुयायी तौ अद्वैतकूं बखानैंहै ॥
द्वैत दुःख-मूल सुखरूप मायाकरि भासैं ।
तामैं कोइ कदाचित तत्त्वकूं पिछानैंहै २२
शरीरसैं भिन्न मन शास्त्रनैं कथन कियो ।
ताहिमैं विवाद विद्या-आधुनिक करैंहै ॥
भौतिकता मनकी वेदांत शास्त्र मानतहै ।
यातैं कोइ आग्रहसैं कहो कहा सरैंहै ॥

कोइ तौ कहत मन मगजकी किया मात्र ।
कोइ ताकूं शरीरकी किया कही ठेरहे ॥
मनकूं अवस्तु जानें जगत अवस्तु होत ।
वस्तुकूं प्रमानि ज्ञानि आनंदमें ठेरहे २३
ईशकृत सृष्टि सर्वकूं समान भासमान ।
तामें सुख दुःखका तौ लेश नहीं जानिये॥
जीवकृत सृष्टि सो तौ जीव प्रतिक्षण रचै ।
तामें सुखदुःख बंधमोक्ष आदि मानिये॥
तातें सुखदुःख बंधमोक्ष द्वंद जीवकृत ।
ऐसें दृढ मनमें विचारिके प्रमानिये ॥
ईशसृष्टि जीवसृष्टि विषै तुच्छदृष्टि करी ।
ब्रह्मरूप मेरेविषै स्वप्नसम गानिये ॥२४॥
नाम-दृष्टि रूप-दृष्टि यही दृष्टि-सृष्टि जानि।
ताकूं स्वप्नसृष्टि जानि शांत चित्त धारहु॥
मैं तौ ब्रह्म मेरेविषै सृष्टि नाहिं दृष्टि नाहिं।
भासै मृगजलवत मिथ्या मानी वारहु॥

यह दृष्टि व्यतिरेकी अन्य अनवयी दृष्टि ।
कल्पितकी सत्ता अधिष्ठान यही सारहु॥
शरीफादि नामरूपका यथार्थरूप उक्त-
रीति ब्रह्म-आत्मरूप लखी पाय पारहु२५

॥ इति श्रीआधुनिकविद्याविलास समाप्त ॥

॥ श्रीपंचदशीके प्रस्ताविकश्लोक ॥

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः ।
अखंडं सच्चिदानंदं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते॥४८॥
चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया ।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ॥
वाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयंते न चेतरः ।
तथाऽप्येतेऽनुभूयंते येन तं को निवारयेत् ॥
जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः ।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः२०८
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥२३५॥
अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम् ।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रंथिभेदतः ॥
आरब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथाऽन्यथा
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पंडितैः२८७

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् १
देहात्मज्ञानवत् ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्सन्येव भवेद् यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते॥
जनकादेः कथं राज्यमिति चेद् दृढबोधतः ।
तथा तवाऽपि चेत् तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ॥
अवश्यं भावि भावानां प्रतीकारो भवेद् यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः १५
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपंचं यत् प्रकाशते ।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते॥
दुःखिनोऽज्ञाः संसरंतु कामं पुत्राद्यपेक्षया।
परमानंदपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया२५५
नित्यानुभवरूपस्य को मे वानुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥

अनुभूतेरभावेपि ब्रह्मास्मीत्येव चिंत्यताम् ।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः ।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे७

असाध्यःकस्यचिद्योगःकस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ८२

॥ इति पंचदशीके प्रस्ताविक श्लोक ॥